# गगनाञ्चल

वर्ष 11 | अंक 3 | 1988

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

**प्रकाशक**

ललित मानसिंह, महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली-110002

**संपादक**

गिरिजा कुमार माथुर

**प्रकाशन सहायक**

डॉ. अमरेंद्र मिश्र

**आवरण**

कांतिराय

**मुद्रक :**

वीएपी एन्टरप्राइज़िज एच -24 ग्रीनपार्क एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-110016


**शुल्क दरें**

| एक अंक | वार्षिक | त्रैवार्षिक |
|---|---|---|
| Rs. 5.00 | Rs. 20.00 | Rs. 50.00 |
| £ 1.00 | £ 4.00 | £ 10.00 |
| $ 2.50 | $ 10.00 | $ 25.00 |

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्यसे 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिंदी **(गगनांचल)**, अंग्रेजी **(इंडियन हराइज़न्स, अफ्रीका क्वार्टरली)**, अरबी **(सक़ाफ़त- उल-हिंद)**, स्पेनिश **(पपेलस-दे- ला- इंडिया)** और फ्रेंच **(रेकौंत्र अवेक लैंद)** भाषाओं में है। हिंदी अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेंच त्रैमासिकों की शुल्क के साथ ही दी गई हैं 'गगनांचल' के शुल्क के भुगतान से संबंधित पत्र-व्यवहार और प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनांचल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट
नयी दिल्ली-110002

# गगनांचल

वर्ष 11, अंक 3, 1988

**प्रसाद जन्मशती पर विशेष**



**निबंध**



**स्मृति**



**सत्यकथा**



**व्यक्तिलेख**



**संस्मरण**



**कविताएँ**



**हास्य-व्यंग्य**

## पुस्तक-समीक्षा



## रपट

# प्रसाद का काव्य-दर्शन

डॉ. नगेंद्र

प्रसाद ने काव्य के स्वरूप का विवेचन इस मान्यता का खंडन करते हुए किया है कि काव्य एक कला है। उनको इसकी प्रेरणा कदाचित डॉ. श्याम सुंदर दास के बहुचर्चित ग्रंथ 'साहित्यालोचन के कला विषयक विवेचन से मिली थी जिसका उस समय काफी प्रचार-प्रसार था। प्रसाद जी का मत है कि इस धारणा का मूल स्रोत यूनानी दार्शनिकों का अनुकरण-सिद्धांत है जिसका जर्मन दार्शनिक हीगेल ने व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया है। हीगेल के अनुसार काव्य ललित कला का सबसे उत्कृष्ट रूप है। उन्होंने ललित कलाओं की वरीयता का निर्णय, उनमें विद्यमान भौतिक आधार के तारतम्य के अनुसार किया है। वास्तुकला में भौतिक आधार सर्वाधिक दृढ़ एवं मूर्त होता है और भावना की अभिव्यक्ति सबसे कम, इसलिए उसका न्यूनतम स्थान है। भौतिक आधार और भावना के सापेक्षिक न्यूनातिरेक के अनुसार क्रमशः मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत के वरीयता क्रम का निर्धारण करते हुए उन्होंने काव्य कला को ललित कलाओं के शिखर पर प्रतिष्ठित किया है। उनका तर्क है कि नाद का भौतिक आधार सार्थक शब्द में परिणत होकर प्रायः विगलित हो जाता है। प्रसादजी ने उक्त दोनों प्रतिपितियों का निषेध किया है : उनका स्पष्ट मत है कि काव्य अनुकरण नहीं है और मूर्त आधार के अनुसार सौंदर्य रूपों में तारतम्य की कल्पना भी मिथ्या है, क्योंकि मूर्त और अमूर्त के भेद की धारणा ही तात्विक दृष्टि से अशुद्ध है। अपनी स्थापना की पुष्टि में उन्होंने भारत के प्राचीन वाङ् मय से प्रमाण दिए हैं जिसमें काव्य को विधा और कला को उपविधा माना गया है। वैदिक साहित्य में कवि को मनीषी, ऋषि के समान द्रष्टा तथा स्वयंभू माना गया है। उधर कामसूत्र में 64 कलाओं का विस्तार से उल्लेख है जिनमें काव्य-समस्या पूरण का अन्तर्भाव तो है किंतु काव्य का नहीं। कला के संदर्भ में प्रसाद जी ने क्षेमराज का एक वाक्य और उद्‌घृत किया है : 'कलयति स्व-स्वरूपा वेशेन तत्तद्‌वस्तु परिच्छिन्न इति कला व्यापारः।'

शैव सिद्धांत के प्रसिद्ध 'पंचकंचुकों' में जिस कला का उल्लेख है उसे किंचित् कर्तृत्व लक्षणा कहा गया है जिसका अर्थ है कर्तृत्व की अल्प क्षमता। यद्यपि इस अंतिम संदर्भ की ओर प्रसाद जी ने संकेत नहीं किया, फिर भी यह कला की पूर्व उद्‌घृत व्युत्पत्ति में निहित है। निषेध पक्ष को अत्यंत युक्ति प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत करने की बात को प्रसाद जी काव्य की तात्विक परिभाषा द्वारा करते हैं "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और

विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसी दास सूरदास से पिछड़े गयें हैं। --- क्या कारण है कि तुलसीदास के रामचंद्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की ? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का।"

उपर्युक्त अवतरण का विश्लेषण करने पर निम्नोक्त निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(क) काव्य का उद्भव-स्त्रोत संकल्प विकल्पात्मक मन नहीं वरन् आत्मा-समरस चेतना ही है।

(ख) काव्य, आत्मा की अनुभूति है, किंतु यह स्वविश्रांतिमयी निस्तरंग अनुभूति न होकर संकल्पात्मक अनुभूति है।

(ग) 'संकल्प' 'विकल्प' अर्थात् मन की विवेचनात्मक प्रवृत्ति या भेद-बुद्धि का विपर्याय है। अतः उसका स्वरूप रचनात्मक या सर्जनात्मक होता है। इस प्रकार 'संकल्पात्मक' अनुभूति का अर्थ हुआ 'सर्जनात्मक अनुभूति'।

(घ) विकल्पात्मक प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण यह अनुभूति सत्य के उभय रूपों - श्रेय और प्रेय से परिपूर्ण होती है।

(च) और, अंत में, परिणामतः यह अनुभूति आनंदमयी होती है। यद्यपि 'आनंद' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त उद्धरण में नहीं है, किंतु इसकी व्यंजना स्पष्ट है : आनंद आत्मा का लक्षण है, अतः आत्मा की परिपूर्ण अनुभूति होने के कारण यह स्वभावतः ही आनंदमयी होता है।

प्रसाद जी की काव्य-विषयक प्रतिपत्तियों के कुछ विचार-बिंदु ऐसे हैं जिनपर आधुनिक समीक्षक शंका कर सकता है। अतएव इन तत्त्वों की व्याख्या करना आवश्यक है।

प्रसाद जी काव्य को आत्मा की अनुभूति मानते हैं जब कि आधुनिक समीक्षक यह कहता-सुनता आया है कि काव्य केवल अनुभूति नहीं वरन् अनुभूति की अभिव्यक्ति है, जो प्रत्यक्ष न होकर कल्पनात्मक होती है। इस शंका का समाधान प्रसाद जी के 'संकल्पात्मक अनुभूति' पद की व्याख्या से सहज ही हो जाता है। अनुभूति का संकल्पात्मक रूप निश्चय ही सर्जनात्मक होगा - और काव्य के संदर्भ में यह सर्जना शब्दार्थ मयी अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? उधर 'संकल्प' में कल्पना तत्व का अंतर्भाव भी अनिवार्यतः रहता है। इस संकल्पात्मक अनुभूति' का अभिप्राय अनुभूति की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति से भिन्न नहीं है।

वास्तव में उपर्युक्त प्रतिपत्ति के मूल में प्रसाद जी का अभिमत शैवाद्वैत दर्शन ही है जो चित्त तत्त्व को परम सत्य मानता है। किंतु शैवाद्वैत का सह चित् तत्व निष्क्रिय न होकर

सृजनशील है । यह वेदान्त के ब्रह्म की तरह माया के आवेश से नहीं वरन् स्वेच्छा स्वमित्तौ विश्वमुंमीलयति । अतः अभिव्यक्तिवाद शैवाद्वैत सिद्धांत का अभिन्न अंग है । आत्मचैतन्य स्वभाव से विश्व प्रपंच के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता रहता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसाद जी के पद 'संकल्पात्मक अनुभूति' में अभिव्यक्ति का सहज अंतर्भाव है । अंतर केवल बलाबल का है - और यदि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की सापेक्षिक मौलिकता का निर्णय करना अनिवार्य हो जाय तो अनुभूति को मूल तत्व मानना पड़ेगा ।

इसी तथ्य को प्रसाद जी ने तर्क और उदाहरण द्वारा रेखांकित किया है :

"कामायनी में जो आत्मा की भौतिक अनुभूति की प्रेरणाा है, वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकारंत में प्रकट होती है । वह आकार वर्णात्मक रचना विन्यास में सौंदर्यपूर्ण होने के कारण श्रेय भी होता है । रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है वही तो प्रधान होगी । इसी तथ्य को तुलसी और सूर के वात्सल्य-वर्णन की तुलना के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

वास्तव में यह सौंदर्य-दर्शन का मौलिक सत्य है जिसे वर्तमान युग के भाषाविद् समीक्षकों के एक वर्ग को छोड सभी ने अपनी-अपनी तर्क-पद्धति के अनुसार स्वीकार किया है । यह सुखद आश्चर्य ही है कि आधुनिक युग में अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे काव्य को मूलतः सहजानुभूति ही मानते हैं और काव्य की अर्थमीमांसा के पुरोधा रिचर्ड्स उसे अनुभूति-विधान के रूप में स्वीकार करते हैं ।

प्रसाद जी से यदि यह प्रश्न किया जाता तो वे मुसकरा कर यही उत्तर देते कि मित्र यह संपूर्ण शास्त्रार्थ विकल्पात्मक बुद्धि से प्रेरित है संकल्पात्मक अनुभूति में इसके लिए कोई अवकाश नही है , --- मैं जीवन में प्रसाद जी के साक्षात्कार से वंचित रहा, किंतु उनके आत्माश्वस्त चित्र को देखकर यह कल्पना सहज ही कर सकता हूँ ।

यह संकल्पनात्मक अनुभूति और उसका मूर्त रूप काव्य श्रेय और प्रेय दोनों से परिपूर्ण होता है । श्रेय आधुनिक शब्दावली में कल्याण या मंगल का और प्रेय प्रीति अथवा आनंद का पर्याय है । काव्य में कल्याण और आनंद के संयोग का सिद्धांत भारतीय चिंतन के लिए नया नहीं है । यहाँ चतुर्वर्ग (जिसकी फलश्रुति है कल्याण) की प्राप्ति और प्राप्ति अथवा आनंद दोनों को काव्य का प्रयोजन माना गया है । रामचरित मानस के मंगल के मंगल-श्लोक में वाणी और विनायक की युगपत् स्तुति रस-तत्त्व और कल्याण-तत्त्व के समन्वय की ही व्यंजना करती है :

वर्णानामर्थसंघानांरसानांछन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ।।

पाश्चात्य चिंतन की गंभीर परंपरा भी इसी मत का समर्थन करती है, जैसा कि मिल्टन की निम्नांकित काव्य पंक्ति चरितार्थ करती है -

"कविता वह कला है जो कल्पना और बुद्धि की सहायता से सत्य तथा प्रीति का समन्वय करती है ।"

प्रसाद जी ने इसी तथ्य को दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हुए श्रेय और प्रेय को सत्य के उभय लक्षण माना है । इस प्रकार उन्होंने दोनों के विरोध का ही नहीं भेद का भी निषेध कर

दिया है। इस विश्व प्रपंच का सत्य है आत्म तत्व जो श्रेय और प्रेय रूपों में व्यक्त होता है। आत्मा की अनुभूति होने के कारण काव्य में स्वभावतः इन दोनों का अंतर्भाव रहता है।

इसी संदर्भ में प्रसाद जी के एक वाक्य पर ध्यान देना आवश्यक है : काव्य एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। यहाँ पहले तो 'ज्ञान' और 'अनुभूति' के वर्तमान भेद का निराकरण करना जरूरी है क्योंकि प्राचीन भारतीय दर्शन (और मनोविज्ञान जो दर्शन का ही अंग है) ज्ञान और अनुभूति को आत्मा की एक ही क्रिया मानता है। अतः उपर्युक्त उद्धरण में 'ज्ञानधारा' पद को अनुभूति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। इसके उपरांत यह तथ्य सामने आता है कि यद्यपि श्रेय और प्रेय सत्य के उभय लक्षण हैं किंतु अंत में श्रेय प्रेय में ही परिणत हो जाता है - केवल 'आनंदमयी' चेतना ही शेष रह जाती है। -- प्रसाद का यह मंतव्य भी भारतीय काव्य-दर्शन में प्रायः यथावत् मान्य रहा है। शैवाद्वैत के 'आनंदवाद' के प्रस्तोता अभिनव गुप्त तो आनंदघन आत्मस्वाद को काव्य की चरम सिद्धि मानते ही हैं, काव्य के अन्य संप्रदायों में भी जिन पर प्रसाद जी विवेकवादी चिंताधारा का प्रभाव मानते हैं।इसकी अनुगूंज मिलती है। वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुन्तक और ध्वनिवाद के प्रवक्ता मम्मट के निम्नोक्त वक्तव्य इसके प्रमाण हैं।

कुंतक : चतुर्वर्ग फलास्वादमप्यति क्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृत रसे नाम्तश्च चमत्कारों नितंयते ।।

काव्यामृत रस के द्वारा मर्मज्ञों को चतुर्वर्ग की सिद्धि से भी बढ़कर अंतश्चमत्कार प्राप्त होता है।

मम्मटः सकल प्रयोजन मौलिभूतम विगलितवेद्यांतर मानन्दम।

अर्थात अन्य सभी प्रकार की चेतना जिसमें विलीन हो जाती है, ऐसा आनंद ही काव्य के सभी प्रयोजनों का मौलिभूत है। -- व्यावहारिक स्वर पर भी सामान्य विवेक के द्वारा भी इस तथ्य की सहज ही पुष्टि हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि जीवन का समस्त कार्यव्यापार सर्वांगीण योगक्षेम की (जिसे आत्मवादी दर्शन में आत्म-कल्याण कहा गया है) साधना है। किंतु इस साधना की सिद्धि क्या है ? आनंद ही न ? वास्तव में योगक्षेम स्थिति है (अनुभूति नहीं) जिसका अनुभूत्यात्मक रूप आनंद ही है।

आत्मा की इस संकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्ति के आधार पर ही प्रसाद जी ने वाङ्मय के दो भेद किये हैं। काव्य और शास्त्र। विकल्पात्मक - विवेकमयी विश्लेषात्मक प्रवृत्ति का मूर्त्त रूप है शास्त्र। शास्त्र का संबंध सत्य के केवल एक लक्षण श्रेय के साथ ही होने के कारण वह अपूर्ण है ओर उसी अनुपात से उसकी सार्थकता भी परिमित है। इसके विपरीत काव्य आत्मा की संकल्पात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति है जिसमें सत्य के उभय रूपों - श्रेय और प्रेय का तादात्म्य रहता है। अतः वह अपने आप में परिपूर्ण है।

इसी तर्क पद्धति से प्रसाद ने काव्य-विवेचन की सरणियों - रूढ़ शब्दावली में काव्य-सिद्धांतों का भी दो वर्गों में विभाजन किया है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति संप्रदाय, जिनमें विवेक बुद्धि के आधार पर काव्य का विश्लेषण किया जाता है एक वर्ग के अंतर्गत आते हैं और चेतना की विकल्पात्मक शक्ति के प्रतिफलन होने के कारण इनकी गणना वे अवरकोटि में करते

हैं। दूसरे वर्ग में आता है आनंदवादी रस संप्रदाय जिसका विकास आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति के आधार पर होता है – अतः प्रसाद जी इसी को प्रमाणित काव्य दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। ध्वनि सिद्धांत की गणना भी वे विवेकवादी वर्ग में करते हैं। किंतु ध्वनिकार ने ध्वनिचक्र के अंतर्गत रस-तत्त्व की अत्यंत प्रबल शब्दों में महत्व-प्रतिष्ठा की है, इसलिए प्रसाद जी अलंकार आदि की अपेक्षा इसे उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं। फिर भी उनकी अविकल निष्ठा आनंदवर्धन के रसध्वनिवाद की अपेक्षा अभिनवगुप्त के शुद्ध रसवाद में ही है।

काव्य के स्वरूप-विवेचन के संबंध में एक अन्य प्रश्न पर भी विचार करना उपयोगी होगा। प्रसाद के मत से काव्य आत्मा की अनुभूति है। यह धारणा अद्वैत दर्शन से प्रभावित है - और भारत के अधिकांश आचार्य भी किसी -न -किसी रूप में इसे ही स्वीकार करते हैं। कवि की कारयित्री प्रतिभा नवोन्मेषशालनी प्रज्ञा का नाम है - और प्रज्ञा आत्मा की ही शक्ति है। पश्चिम में भी अनेक आचार्य जिन्होंने दार्शनिक स्तर पर काव्य का स्वरूप-विवेचन किया है, इसी धारणा को व्यक्त करते हैं। प्राचीनों में प्लेटों ने शुद्ध काव्य को आध्यात्मिक अनुभूति ही माना है और आधुनिकों में क्रोचे के काव्य को सहजानुभूति के रूप में परिभाषित किया है जो आत्मा की ही संकल्पात्मक शक्ति है। फिर भी मनोविज्ञान के युग में इस अवधारणा को यथावत स्वीकार कर लेना कठिन है। सामान्य विवेक के अनुसार काव्य-रचना मन की क्रिया है -- भावना इसकी प्रेरक है, कल्पना माध्यम है - और ये दोनों मन की ही शक्तियाँ हैं।

प्रसाद के विवेचन में इसका प्रतिवाद नहीं है। भेद वास्तव में विचार-पद्धति का है। प्रसाद जी ने स्थान-स्थान पर संकल्प-विकल्प को आत्मा की मनन शक्ति की क्रिया माना है जिस मन के साथ संकल्पात्मक अनुभूति रूप काव्य का कारण कार्य संबंध स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय अद्वैत दर्शन के अनुसार मन का आविर्भाव आत्मा या चित् तत्व से होता है। आत्माभिनयनं भावः - (भरत) यहाँ अनुभूति चक्र का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है : पदार्थ ---ज्ञानेन्द्रिय --- मन ---- चित् : अर्थात् सर्वप्रथम पदार्थ का ज्ञानेंद्रिय विशेषके साथ सन्निकर्ष होता है, इसके बाद पदार्थ के संस्कार से युक्त ज्ञानेंद्रिय का सन्निकर्ष मन के साथ होता है, और अंत में उपर्युक्त संस्कारों को ग्रहण करने वाले मन का सन्निकर्ष आत्मा से होने पर अनुभूति चक्र पूरा हो जाता है। मनोविज्ञान में भी अनुभूति की प्रक्रिया यही है : भेद केवल इतना है कि उसमें आत्मा के स्थान पर चेतना की सत्ता को ही प्रामाणिक माना गया है।

अभिप्राय यह है कि प्रसाद जी की रसकल्पना में मनोभाव की यथावत् स्वाकृति है : भाव ही आत्म में विश्राांति पा जाने पर रस होते हैं : – इसका एक अन्य प्रमाण यह है कि उन्होंने वेदांत के अनुयायी पंडितराज जगन्नाथ द्वारा संशोधित रस की परिभाषा 'रत्यादि विशिष्टो चित्' को अस्वीकार कर शैवाद्वैत के प्रवक्ता अभिनवगुप्त के लक्षण 'चिँद्विशिष्टो रत्यादिः' को ही प्रामाणिक माना है। वेदान्त के अनुसार चित् तत्व ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। अतः आनंदमय रस चित् ही हो सकता है क्योंकि रत्यादि जागतिक भाव तो मिथ्या ज्ञान मात्र हैं। इससे भिन्न शैवाद्वैत, दर्शन, जगत् को चित् तत्व की ही अभिव्यक्ति मानने के कारण रत्यादि को आत्मा की अनुभूति के विविध रूप मानता है। प्रसाद ने इसी चिंतन क्रम से आत्मचैतन्य से प्रकाशित भाव अर्थात रस और उसके मूर्त रूप काव्य को आत्मा की अनुभूति माना है।

प्रसाद जी के संदर्भ में काव्य की आत्मा के विषय में जिज्ञासा के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। उनके संपूर्ण चिंतन का प्रस्थान बिंदु है शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनंदवाद। आनंदघन

आत्मा की संकल्पात्मक-सामान्य शब्दावली में सर्जनात्मक अनुभूति शब्दार्थ तथा अन्य (वाचिक-आंगिक अभिनय, संगीत नृत्य आदि) माध्यमों के द्वारा व्यक्त होकर इस रूप में परिणत हो जाती है। तर्क पद्धति से काव्य का रस के साथ मौलिक संबंध स्थित हो जाता है और अलंकार, राति, वक्रोक्ति आदि का संबंध आरोहित ही माना जा सकता है : काव्य शास्त्र की परिचित शब्दावली में रस काव्य का मौलिक एवं स्थिर धर्म हो जाता है और अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि अस्थिर धर्म मात्र रह जाते हैं।

आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति होने के कारण रस का स्वरूप अपने में परिपूर्ण और अखण्ड होता है जिसमें किसी अन्य अनुभूति का स्पर्श और कोटिक्रम नहीं रहता है। इस मान्यता के अनुसार प्रसाद ने आलोचक रामचंद्र शुक्ल के 'रस-कोटि' सिद्धांत का अत्यंत आश्वस्त भाव से खण्डन किया है।

इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते। फलतः उसके प्रति रोषभाव ही जाग्रत होता है। यह तो स्पष्ट विषमता है। किंतु रस में फलयोग अर्थात् अंतिम संधि मुख्य है। इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं, रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देता है।"

(काव्य और कला तथा अन्य निबंध -- पृ. 82-83)

जैसा कि हम शुक्ल जी के संदर्भ में अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं शुक्ल जी की विचार पद्धति प्रत्यक्षवादी है और प्रत्यक्ष विचार-वितर्क के आधार पर यह अनर्गल प्रतीत नहीं होती। यह जरूर है कि उन्होंने जो उदाहरण दिया है, वह सही नहीं है। प्रत्येक-आश्रय की मनः स्थिति के साथ सहृदय का तादात्मय नहीं होता। 'साधारणीकरण' की एकांगी कल्पना से इस प्रकार का विचार मन में उठ सकता है। किंतु साधारणीकरण रस के किसी एक अवयव - आश्रय आलंबन का न होकर समस्त अवयवों से निर्मित संपूर्ण प्रसंग - और तत्त्व रूप में उसकी प्रेरक कवि की अनुभूति का ही होता है। उपर्युक्त प्रसंग में भी, कवि की भावना में आश्रय के प्रति रोष और आलंबन के प्रति करूणा का अंतर्भाव है। नाटक के दृश्य या काव्य के प्रकरण के केंद्र में यदि अत्याचारी आश्रय है तो यहाँ रौद्र रस की प्रतीति होगी। -- अतः प्रसाद जी ने इस युक्ति के द्वारा कि 'रस का निर्णय फलयोग के आधार कर किया जाता है' शुक्ल जी के मत का सहज रूप में खण्डन कर दिया है।

किंतु प्रसंग यहीं समाप्त नहीं होता। 'शाकुन्तलम्' की अपेक्षा 'उत्तरराम चरित' अधिक सरस है, बालकाण्ड की अपेक्षा अयोध्याकाण्ड में रस अधिक है, तुलसी के वात्सल्य-वर्णन की अपेक्षा सूर का वात्सल्य वर्णन अधिक रसमय है। इस प्रकार के प्रायः बहुमान्य निष्कर्षों का क्या अर्थ है ?

प्रसाद का उत्तर स्पष्ट है : ये सभी निष्कर्ष व्यावहारिक हैं, तात्त्विक नहीं अर्थात् ये विकल्पात्मक विवेचन-विश्लेषण के परिणाम हैं, संकल्पात्मक अनुभूति के नहीं। रस अपने आप में परिपूर्ण अनुभूति है और पूर्णता में मात्रा भेद नहीं हो सकता : पूर्ण से पूर्णतर या पूर्णतम की कल्पना असंगत है। आधुनिक युग के तत्त्वविद्, विचारक क्रोचे ने भी सौंदर्य के विषय में इसी प्रकार का तर्क दिया है। उनका मत है कि सौंदर्य पूर्ण अभिव्यक्ति का ही पर्याय है। इसलिये सौंदर्य के प्रसंग में तारतम्य की कल्पना एकांत निरर्थक है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'अंगी रस' के संबंध में भी इसी प्रकार का विवाद उठा था। इस संदर्भ में अभिनव गुप्त ने भागुरि मुनि का प्रमाण दिया है। अंगीरस के विरोधियों का तर्क है कि प्रत्येक रस की स्वचमत्कार में विश्रांति होने के कारण उसकी अनुभूति अपने आप में पूर्ण होती है। रसों में अंगांगिभाव या उपकार्य-उपकारक संबंध मान लेने से अंगभूत रस की स्व-चमत्कार में विश्रांति न होने से इसका रसत्व ही खंडित हो जाता है। इसलिए रसों में अंगागि भाव मानना अनुचित है। अभिनवगुप्त ने इसका प्रतिवाद प्रधानता और बहुव्याप्ति के आधार पर किया है। प्रबंध काव्य के अंतर्गत अनेक रसों में जिसकी प्रधान रूप से और बार-बार निष्पत्ति की गई हो, वही अंगीरस है।

रसानां बहुवेतानां रूपं यस्य भवेत् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी, शेषाः संचारिणः मताः॥

(भरत)

किंतु समस्या इतनी सरल नहीं है, जिज्ञासु फिर प्रश्न कर सकता है कि रसराज की प्रकल्पना का आधार क्या है। इसका उत्तर आधारभूत स्थायीभाव की मौलिकता और स्थायी तथा व्यापक प्रभाव के आधार पर ही दिया जा सकता है। श्रृंगारवादियों ने इन्हीं विशेषताओं के कारण श्रृंगार का, और शांत रस के प्रवक्ताओं ने शांत का रसराज के रूप में अभिषेक किया है। भवभूति ने करुण रस के पक्ष में भी इसी प्रकार का तर्क दिया है।

नयी समीक्षा के वृत्त में भी सापेक्षिक मूल्यांकन का प्रायः विरोध ही किया गया है। कलाकृति का आधार-तत्त्व है समन्विति। अपनी आंतरिक समन्विति में पूर्ण प्रत्येक कलाकृति का स्वतंत्र व्यक्तित्व है - अतः विभिन्न कलाकृतियों में तारतम्य तथा साम्य-वैषम्य का संधान करना निरर्थक प्रयास मात्र है। नयी समीक्षा के विकास से कई दशाब्द पूर्व मोल्टन नामक एक सामान्य समीक्षक यह घोषणाा कर चुका था कि दो रचनाओं में काव्य गुण के तारतम्य का आकलन करना इतना ही हास्यास्पद है, जितना यह निश्चय करना कि समबाहु त्रिभुज और समद्विबाहु त्रिभुज में कौन अधिक सुंदर है।

फिर भी, व्यावहारिक समीक्षा का वृत्त तो मूल्यांकन के बिना पूरा नहीं होता - और मूल्यांकन में तारतम्य की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धारणा निश्चय ही विद्यमान रहती है। मूल्यांकन केवल निर्णयात्मक समीक्षा का ही नहीं व्यावहारिक समीक्षा के भी समस्त रूपों और विधाओं का अनिवार्य अंग है। वह काव्य-तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण की फलश्रुति है जो कहीं वाच्यार्थ और कहीं सूक्ष्म रीति से व्यंग्यार्थ के द्वारा अनायास ही व्यक्त हो जाता है।

व्यावहारिक समीक्षा के स्तर पर रसवादी का भी इससे निस्तार नहीं है। यदि काव्य की आत्मा रस है तो काव्य कृतियों का सापेक्षिक मूल्यांकन भी उनके सापेक्षिक रसवत्ता के आधार पर ही होगा। - और इस तर्क-पद्धति में किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि रसवत्ता के सापेक्षिक मूल्यांकन का आधार क्या हो सकता है ? इसका समाधान कठिन अवश्य है किंतु असाध्य नहीं है यह आधार हो सकता है रसोद्बोधन की क्षमता। सभी काव्य कृतियों में सहृदयों के चित्त में रस का उद्‌बोधन करने की क्षमता एक-समान नहीं होती। कुछ कृतियों द्वारा उद्‌बुद्ध रसानुभूति अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, सघन, स्थायी अथवा व्यापक होती है - यह सामान्य अनुभव का विषय है। 'उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिविशिष्यते।' - सहृदय समाज के इस बहुमान्य निर्णय का

आधार यही है कि उसका रसात्मक प्रभाव 'शाकुन्तलम्' की अपेक्षा अधिक सघन और स्थायी है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक आई. ए. रिचर्ड्स का भी यही मत है कि जिस कृति में हमारी विभिन्न और परस्पर-विरोधी चित्तवृत्तियों को समीकृत करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उसका कलात्मक मूल्य उतना ही अधिक माना जाएगा। चित्तवृत्तियों का यह समीकरण रसानुभूति की अवस्था से भिन्न नहीं है - अतः इसमें तारतम्य की कल्पना अव्यावहारिक तथा असंगत नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि सिद्धांत रूप में तत्व-द्रष्टा की रस-कल्पना में कोटिक्रम के लिए चाहे कोई अवकाश न हो, किंतु व्यावहारिक समीक्षक रस के प्रति पूर्ण आस्थावान होते हुए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तारतम्य या कोटिक्रम को बराबर स्वीकार करता रहा है और इसमें कोई वैचित्र्य नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद भी पारमार्थिक रूप में ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानता हुआ भी व्यवहार रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करके ही चलता है। अद्वैतवादी कवि-दार्शनिक और द्वैतमूलक प्रत्यक्षवादी आलोचक के वैचरिक विरोध का इस भूमिका पर समाधान हो जाता है।

□

# छायावाद और प्रसाद की प्रासंगिकता

डॉ. निर्मला जैन

यह वर्ष जयशंकर प्रसाद का जन्मशत वार्षिकी वर्ष है। ऐसे अवसर पर प्रसाद की प्रासंगिकता पर विचार स्वाभाविक तो है ही, जन्मशत वार्षिकी की प्रचलित रूढ़ि भी है। इस रूढि के पालन की सबसे बड़ी सार्थकता इस बात में निहित रहती है कि हम विचाराधीन विषय का पुनराविष्कार करते हैं - औरों के बहाने अपने लिए भी।

छायावाद के कवियों में प्रसाद जन्मतिथि की दृष्टि से वरिष्ठतम हैं – काव्य-रचना आरंभ करने की दृष्टि से भी। यह बात अलग है कि ठेठ छायावादी तेवर की कविताएं लिखना उन्होंने काफी बाद में आरंभ किया। प्रसाद के काव्य की प्रासंगिकता पर विचार इस दृष्टि से एक सिलसिले की शुरूआत है, क्योंकि स्वभावतः हर कवि के जन्मशतवार्षिकी वर्ष के अवसर पर यह सवाल फिर उठेगा, और उठाया जायेगा।

प्रसाद की प्रासंगिकता पर विचार करने से पहले इस बात की ओर ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि "नए" और बाद के कवियों ने जिस कवि में आत्मीयता की तलाश सबसे अधिक की, वह प्रसाद नहीं निराला थे। यह केवल संयोग नहीं कहा जा सकता। आधुनिकता और प्रयोगशीलता के प्रवक्ता अज्ञेय ने जिस छायावादी कवि को "केवल विश्वविद्यालयों का कवि" कहते हुए एक तरह से कवि-बिरादरी से बाहर रखने का प्रस्ताव किया, वे प्रसाद थे। गरचे उन्हीं के समकालीन मुक्तिबोध को समस्त छायावादी कवियों में अगर कोई कवि ऐसी चुनौती सरीखा दिखलायी पड़ा, जिससे निबटे बिना आगे बढ़ना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो, तो वे भी प्रसाद ही थे। मुक्तिबोध ने अनेक बुनियादी प्रश्नों पर विचार भी किया और पूर्ववर्ती साहित्य के संदर्भ में भी काफी लिखा। पर जिस एक रचना से सविस्तार जूझने की बाध्यता उन्होंने महसूस की वह प्रसाद की कृति "कामायनी" ही थी। यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध की कविता "अंधेरे में" का बुनियादी सवाल है –"वह कौन मनु ?"

बहरहाल, प्रासंगिकता का सवाल इतना इकहरा और सतही नहीं है कि उसका फैसला यह कहकर कर लिया जाए कि छायावाद के कुछ कवि केवल विश्वविद्यालयों के संदर्भ में प्रासंगिक हैं, और कुछ विश्वविद्यालयों के बाहर। अगर ऐसा है, तो इस तथ्य से क्या निष्कर्ष निकाला जाए कि उपर्युक्त फतवे के लगभग तीस वर्ष बाद छायावाद – परवर्ती कवियों में से विश्वविद्यालयों में सर्वाधिक स्वीकृत कवि अज्ञेय ही हैं। यह भी कि बाद के रचनाकारों में यह भरोसा दिखायी पडा कि "अज्ञेय, आगे के इतिहासकार को, प्रसाद की "परंपरा" में दिखलाई पड़ेंगे।" तर्क भले ही यह

दिया गया हो कि परंपरा का अर्थ केवल पुनरावृत्ति नहीं होता, बल्कि "परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरित्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है।"

परंपरा के अनुवर्तन और परंपरा में परिवर्तन, दोनों से उसके साथ सापेक्षता या प्रासंगिकता का संबंध कायम होता है। जो अपेक्षणीय है उपेक्षणीय नहीं – समर्थन से या विरोध से वही प्रासंगिक भी है। सवाल है कितनी दूर तक और किस रूप में।

छायावाद की पुष्कल काव्य-सृष्टि ने वायवीपन या कल्पनातिशयता की शिकायत का बराबर सामना किया। इन कवियों की आदेर्शोमुखता और रहस्योन्मुखता को इस वायवीपन के एक आयाम या भंगिमा के रूप में ही देखा जाना चाहिए। विजयदेवनारायण साही ने इसे लघु और महत्, यथार्थ और आदर्श की मिलन-भूमि कहकर, उस मनोभूमि की अनुभूति की, दोनों के आपसी संबंध और प्रकृति की पड़ताल करने का प्रयत्न किया था। व्याख्याएं और भी सामने आयीं। परंतु उत्तरवर्ती मानसिकता में यथार्थ के बढ़ते आग्रह ने इस युग की कालबद्ध आदर्शोन्मुखता और कालातीत रहस्योन्मुखता की विश्वसनीयता और अनुभव संपन्नता पर बराबर संदेह किया।

छायावाद ही नहीं इतिहास के उस दौर में सारे भारतीय साहित्य की मनोभूमि ऐसी ही थी। इससे न प्रेमचंद बच सके न प्रसाद, और न दूसरी भाषाओं के कवि। छायावादी कवियों में यह आदर्श प्रायः या तो अपरिभाषेय है या अव्यावहारिक। आदर्श उनके यथार्थ का लक्ष्य है पर यह लक्ष्य कैसा है ? इसका ठीक ठिकाने का दो टूक उत्तर उनके पास नहीं है। कुछ है जो क्षितिज के पार से चुंबकीय आकर्षण से खींचता है। कहीं जिज्ञासा से – "कौन तम के पार रे कह ?" (निराला) कहीं बीच का व्यवधान भेद कर देख लेने की उत्कण्ठा और ललक से "तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूं, उस पार क्या है"? और कहीं संकल्प से – "इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना, किंतु पहुंचना उसके आगे, जिसके आगे राह नहीं।" इस पार से उस पार की यह ताकझांक तो सभी में समान रूप से है, पर उस पार की किसी सीमा तक तात्विक व्याख्या करने का प्रयत्न प्रसाद ने ही सबसे अधिक किया है। यह बात अलग है कि ऐसा करते हुए वे प्रायः इस देशकालातीत अनंत तत्व का मेटाफिज़िकल प्रभामण्डल रचने लगते हैं, जिसका ताल्लुक कल्पना सिद्ध आस्था से अधिक प्रतीत होता है। "श्रम विश्राम क्षितिज बेला से करते जहाँ सृजन मेला से," में दर्शन का जो आभास दिखायी पड़ता है आगे उसकी परिणति एक ओर रहस्यधर्मी अंतस्साधना में होती है : स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो/इच्छा क्रिया ज्ञान मिल तय थे/ दिव्य अनाहत पर निनाद में/श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे/ और दूसरी ओर एक ऐसी काल्पनिक वस्तुस्थिति में जहां पापितों और शापितों से विहीन वसुधा समतल है। जहां जड़-चेतन सब समरस हैं। मुक्तिबोध ने इसे लक्ष्य करते हुए सही कहा था : कि "कामायनी" इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि किस प्रकार ज्ञान-क्रिया-इच्छा के सामंजस्य प्रश्न को आध्यात्मिक प्रश्न बना दिया गया है, औरअद्वैतवादी सामरस्य के द्वारा उसे सुलझाया गया है। ज्ञान–क्रिया–इच्छा के सामंजस्य का प्रश्न व्यावहारिक जगत का तथा मानव मन का – दोनों का प्रश्न है, उसे रहस्यवादी ढंग से हल नहीं दिया जा सकता है।" हल के बारे में असहमति अपनी जगह सही है। पर खुद मुक्तिबोध की समस्या भी तो है ही : समस्या एक/मेरे सभ्य नगरों में/सभी जन/सुखी सुंदर और शोषण मुक्त कब होंगे। अंतर दोनों के प्रश्न के धरातल का है। मुक्तिबोध के पास उत्तर नहीं है और प्रसाद के पास है – नितांत अव्यावहारिक दिखायी पड़ने वाला।

ध्यान से देखें तो यह मानसिकता उस समय की राजनीतिक स्थिति से एकदम मेल खाती है। गुलामी की विषमता से आकुल आज़ादी की समरसता का स्वप्न देखता भारतीय मानस , जो "सर्वोदय" और "रामराज्य" की बात ही कर सकता था, उसका ठीक-ठीक स्वरूप-निरूपण नहीं। इसीलिए आज अगर इस काव्य की प्रासंगिकता का सवाल उठता है, तो यह ठीक उसी तरह है जैसे राजनीति में गांधी की प्रासंगिकता का सवाल।

समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने की प्रक्रिया में मेटाफ़िज़िकल हो जाना भारतीय संस्कृति और चिंतन-परंपरा का लक्षण भी है और उपलक्षण (कन्वेंशन) भी। आधुनिक नवजगरण में 'भारतीय संस्कृति' की तलाश, के दार्शनिक अनुषंग और गांधी जी की पद्धति में मेटाफ़जिलकल तत्व प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते। उस विराट परिदृश्य छायावादी कवियों की, और उनमें भी विशेषकर प्रसाद की मेटाफ़िज़िकल दार्शनिक भंगिमा यदि बेठिकाने और आज अप्रासंगिक प्रतीत होती हो तो उन समकालीन रचनाकारों की पुनरुत्थानवादी धर्मोन्मुखता की प्रासंगिकता को कैसे समझा-समझाया जाएगा जो धर्म-निरपेक्षता की ऐतिहासिक आवश्यकता के वर्तमान दौर में तत्व-चिंतन नहीं, धर्म का कर्मकाण्ड या तीर्थाटन करने निकल रहे हैं। वस्तुस्थिति के अनुरोध से उत्पन्न छायावादियों की तात्विक आध्यात्मोन्मुखता यदि राष्ट्रीय धारा के अनुकूल थी, तो अज्ञेय और निर्मल वर्मा की हिंदूत्व की चिन्ता छद्म नहीं तो इतिहास-विरुद्ध तो कहीं ही जायेगी। ऐतिहासिक क्रम में यह परिवर्तन विकास का नहीं विकृति का सूचक है। इस विकृति की समझ के लिए उस प्रकृति की प्रासंगिकता की समझ बहुत ज़रूरी है।

उस युग में ऐसा क्या कुछ था, जिसकी प्रेरणा से युग पुरुष गांधी स्वाधीनता से पहले स्वाधीनता की चेतना की अंतर्ध्वनि को पकड़ने और पुष्ट करने की बात कर रहे थे, आचार्य शुक्ल रसदशा को हृदय की मुक्तावस्था में खोज रहे थे और कवि प्रसाद सत्य को उसके मूल चारूत्व में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से ग्रहण कर लेने की वकालत कर रहे थे। यही श्रेय को प्रेयात्मक पद्धति से सिद्ध कर लेना था। परिवर्तन सब चाहते थे --- पराधीनता से स्वतंत्रता में, बन्धन से मुक्ति में, विषमता से समरसता में। यह एक स्वप्न था जिसे सब देख रहे थे, वेग से उसकी और आकर्षित हो रहे थे। इस स्वप्न की ताबीर किस रूप में होगी, इसका ठीक-ठीक उत्तर किसी के पास नहीं था। न राजनेता के पास न कवि के पास और न आलोचक के पास। दिलचस्प बात तो यह है कि कामायनी के कवि ने जिस असामंजस्य और असंतुलन को अपने समय के मनुष्य की मूल समस्या के रूप में पहचाना था, उससे कामायनी में असंगतियां खोज निकालने वाले आचार्य शुक्ल भी सहमत थे : "अपने कई निबंधों में हम जगत की वर्तमान अशांति और अव्यवस्था का कारण इसी सामंजस्य का अभाव कह चुके है।" रोग के निदान को प्रासंगिकता के बारे में शंका हो सकती है पहचान के बारे में नहीं।

आरंभ में छायावाद को योरप के रोमान्टिसिज्म से मिलाकर देखने का जो भ्रम दिखायी पडा था, उसका निराकरण होते हुए देर नहीं लगी। योरप के रोमाण्टिक आंदोलन की विस्फोटक शक्तिमत्ता से अलग छायावाद की नैतिक उदात्तता ने अपनी जातीय पहचान बहुत जल्दी बना ली। हिंदी प्रदेश की एक और निजी विशषेता थी -- द्वंद्व की तीव्र प्रखरता से अधिक संयम और संतुलन की तलाश, भले ही यह तलाश अंततः सतोषप्रद मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक नतीजों तक न पहुँचे। पर क्या इतने से ही वह अप्रासंगिक हो जाती है ? क्या बाद के कवियों ने सभी प्रश्नों के दो टूक व्यावहारिक और विश्वसनीय समाधान पा लिए ? जीवन-व्यवहार में धर्मवीर भारती के

'अंधा युग' का संशयवाद अस्तित्ववादी शब्दावली के प्रयोग भर से क्या तत्वतः 'कामायनी' के आशावाद से भिन्न हो जायगा ? विनाश के अंधकार में से दोनों प्रकाश की किरणों खोजते हैं – दोनों अलग अलग ढंग से प्रतीक-कथा कहते हैं। यथार्थ पर दोनों आदर्श की मुहर लगाते हैं, रूप रंगत अपनी-अपनी है। यथार्थ उनके आन्तरिक सत्य पर हावी नहीं होता, उसके आगे अड़चन बनकर नहीं खड़ा होता। सारी कटुता और कठोरता आदर्श के एक जादुई स्पर्श से निःशेष हो जाती है।

यर्थाथवाद की आग्रही दृष्टि को छायावाद की आदर्शोन्मुखता बराबर खटकी है। प्रसाद के संदर्भ में एक हद तक उनकी अतीतोन्मुखता भी। उन्हें अतीतजीवी रचनाकार के रूप में देखने समझने के प्रयत्न लगातार हुए हैं। छायावाद के कवि के लिए यह प्रश्न अतीत और भविष्य का नहीं ठेठ वर्तमान का है। ये कवि इतिहास के क्रम में जहां खडे हैं उसकी वर्तमानता को इन्होंने अतीत और भविष्य की सापेक्षता में ग्रहण किया है। वे निरंतरतावादी हैं क्षणवादी नहीं। प्रसाद के वर्तमान में अतीत अपने अतीतपन के साथ नहीं, पूरी वर्तमानता के साथ विद्यमान है। इलियट ने परंपरा के इसी नैरंतर्य-बोध की वकालत की थी। छायावादी काव्य की वेदना और अपराजेय संकल्प दोनों का उत्स यही निरन्तरता-बोध है। यह संयोग-मात्र नहीं है कि प्रसाद की कविताओं में एक 'पैटर्न', एक बुनियादी एकता तो दिखायी पडती ही है एक रचनाक्रम भी दिखायी पड़ता है। उनके काव्य में विकास के चरण हैं जहां आपको सूरदास, घनानंद, भारतेन्दु, यहाँ तक कि मैथिलीशरण गुप्त भी मिलेंगे। और इन्हीं के बीच उनकी कविताओं की एक बुनियादी एकता है, जो आरंभ की छोटी कविताओं से शुरू होकर 'कामायनी' तक पहुँचती है। मनु की 'चिन्ता' का, विषमता-बोध का, एक आर्थिक-सामाजिक पक्ष तो है ही जिसे मुक्तिबोध विस्तार से प्रकाशित कर चुके हैं। उसका एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पक्ष भी है। यह समस्या मनुष्य ने विरासत में, ऐतिहासिक दाय के रूप में पायी है। देह धरे के इस दण्ड को भोगने के लिए प्रसाद को मनु जैसे मिथकीय चरित्र की ही अवतारणा आवश्यक प्रतीत हुई थी।

कामायनी के मनु में आत्मान्वेषण की, अपने को अपने अतीत के सन्दर्भ में समझने की जो गहन चिंता, व्याकुलता दिखायी पड़ती है वह प्रसाद की आरंभिक कविताओं से ही मिलने लगती है। 'कल्पनातीत काल की घटना' में छिपी हुई गहरी बात' की स्मृति, जीवन-रथ पर चढ़कर चलते हुए प्रलय की चेतना, अपनी दुर्बलता का अहसास, फिर भी हारी होड़ लगाने का उत्साह और संकल्प । यह प्रसाद की मानसिक बनावट है, जिससे उस संस्कृति की 'गोधूलि' को समझा जा सकता है, जिसके वे कवि हैं। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' से मिलान करने पर, जिस जातीय सांस्कृतिक इतिहास की झलक मिलती है वह इससे बहुत भिन्न नहीं है। यहाँ उस तुलना की गुंजाइश नहीं है। कहना सिर्फ इतना है कि जिस 'नाविक अतीत को उतराई' देते हुए छायावादी कवि वर्तमान में संचरण करते हैं, वह अतीत उन की रचनाओं में बराबर स्पंदित होता है। "यह अतीत की विकल कल्पना, ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है : अतीत का सम्मोह नहीं 'अतीत की विकल कल्पना'। जो कि एक साथ नितांत आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सास्कृतिक भी।" दरअसल छायावादी कवियों में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चेतना प्रसाद में सबसे अधिक प्रखर है। यह चेतना बहुतों को आज अप्रासांगिक प्रतीक हो सकती है। उन्हें तो और भी जिन्हें प्रेमचंद की दुहाई देते हुए आगे का हिसाब बैठाने के फेर में पीछे देखना बेमानी या फिर अप्रासंगिक लगता है।

इस सबके बावजूद यह सही है कि प्रसाद की अपेक्षा छायावाद के तीन कवियों के प्रति पाठकों में अधिक समुत्सुकता या ग्रहणशीलता दिखायी पड़ी। पर उसका कारण केवल प्रसाद में प्रासंगिकता की कमी नहीं है । वस्तुतः उसमें निराला की संवेगात्मक ऊर्जा, महादेवी का वेदना-विगलन, और पंत की चित्रमयी गति नहीं है। आवेग के क्षण उनके यहां बहुत कम आते हैं। यदि आते हैं तो अत्यंत थिराए हुए, अनुशासित रूप में। उनकी शब्द-लय में भी द्रुत नहीं, विलंबित गति विन्यास है। वे सीधे भावावेश के क्षणों में काव्य-रचना नहीं करते। उनकी कविता विचारों के दीर्घ-दोहन की, चिंतन-मनन की प्रक्रिया से गुजर कर आकार लेती है। वे ज्ञानात्मक संवेदन के कवि हैं --वैचारिक कविता के सबसे प्रासंगिक कवि। यह बात अलग है कि उन्होंने विचार का प्रयोग विरोध और संघर्ष के लिए नहीं, अनुकूलन और समाधान के लिए अधिक किया है। परवर्ती कवि-परंपरा की दृष्टि में यही उनकी सबसे बड़ी सीमा है, शायद अप्रासंगिक भी।

संवेदन अपनी तात्कालिकता में विकलता उत्पन्न करता है। वह "संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देता घोंट", बौद्धिकता के ताप के बिना प्रसाद की कविता में व्यक्त नहीं होता। यह बौद्धिकता ज्ञानात्मक चेतना है जिसे सांस्कृतिक जीवन से टकराकर कवि अर्जित करता है। यह सांस्कृतिक बोध कवि के व्यक्तिगत बोध को संस्कार-परिष्कार देता है, उसका रूपांतरण करता है। कभी-कभी उसमें गुणात्मक परिवर्तन भी घटित होता है।

सांस्कृतिक चेतना की परंपरा को प्रसाद ने गंभीर अध्ययन से अर्जित किया था जिसका दबाव उनकी कविता पर बराबर बना रहा। संस्कृति उनके अनुसार "सौंदर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा" है। "इसीलए, साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किंतु आवश्यक है।" प्रसाद ने भारतीय दार्शनिक संस्कृति के लक्षण भी बताये हैं और सौंदर्य-बोध-संबंधी रुचि-भेद के भी। काव्य में इस रुचि के प्रतिफलन की व्याख्या करते हुए उन्होंने साहित्य की विवेचना में इस "भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य" में रखने की वकालत की। उनका सारा बल कलाओं के प्रसंग में रुचि और सौंदर्य-बोध की 'भारतीयता' पर था। प्रसाद के सामने यह सवाल जातीय अस्मिता की पहचान और प्रतिष्ठा का सवाल था।

'आलोचकों के गीत' की इस टेक से वे आहत हुए थे कि "हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाहय वस्तु (Foreign Element) है। उन्होंने इसे चुनौती के रूप में स्वीकार किया। उनके उत्तर में न गर्जन-तर्जन था, न आवेश-आवेग, संयत विवेक था, जो शायद इस विश्वास से पैदा हुआ था कि "भारतीय विचारधारा इस संबंध में जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है।" भारतीय संस्कृति की व्याख्या उन्होंने संपूर्ण संस्कृति (टोटल कल्चर) के रूप में की थी। उसे वे बीती हुई घटना के रूप में नहीं, परिवर्तनशील विकासमान सत्ता के रूप में देखते थे और वर्तमान को उसी निरंतरता में व्याख्यायित करते थे। अपने इस सरोकार में वे उन सबके समान धर्मा हैं जिन्हें संस्कृति की निरंतरता के खण्डित या बाधित होने की चिंता सालती है या 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखने के लिए प्रेरित करती है जिन्हें ऐसे प्रयासों में कोरी गतानुगतिकता अतः अप्रासंगिकता दिखायी पड़ती हो, उनके लिए बहुत से रचनाकारों की प्रासंगिकता की जांच एक बार फिर से करनी आवश्यक है।

प्रसाद के विषय में सबसे अधिक असमंजस पैदा करने वाला तत्व उनका यर्थाथ विषयक चिंतन है। बहुतों को उनकी यथार्थवाद संबंधी समझ पर ही एतराज़ हो सकता है। वे यथार्थवाद को

ही इतिहास की संपत्ति मानते थे, पर लगे हाथों आदर्शवाद की ख़ामियों की तरफ़ भी संकेत करते जाते थे। उनकी समझ से "यथार्थवादी, सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता"। और "सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है"। ऐसे में साहित्य क्या करता है ? प्रसाद के पास इस प्रश्न का उत्तर बहुत साफ़ है : "साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख -दग्ध, जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिए असत्य, अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत प्रोत रहती है।"

दुःख-दग्ध जगत् में यह स्वर्गीय हस्तक्षेप आज बहुतों को अमान्य होगा, भले ही उसमें विश्वमंगल की दुहाई दी गयी हो। छायावाद को प्रसाद मूल में रहस्यवाद भी नहीं मानते थे। हिंदी में यथार्थवाद की एक निश्चित परंपरा को उन्होंने अपने ढंग से पहचाना था। उसके ऐतिहासिक कारणों की व्याख्या की थी। पर उसकी विशेषताओं में वे प्रधानता लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात को देते थे। उनकी राय में महत्ता का काल्पनिक चित्रण साहित्य का माना हुआ सिद्धांत था और लघुता से उनका तात्पर्य था "व्यक्तिगत जीवन के दुःख और आभावों का वास्तविक उल्लेख"। काव्य जगत् के लिए अनुभूतिमय आत्मस्पर्श को 'अत्यंत आवश्यक' मानने वाले प्रसाद, की दृष्टि में काल्पनिक चित्रण और वास्तविक उल्लेख के बीच संगति का क्या रूप था ? कहा नहीं जा सकता।

सारी समस्या प्रसाद के निष्कर्षों को लेकर है। मुक्तिबोध ने कामायनी के बारे में जो प्रश्न उठाए थे, वे आज भी अनुत्तरित हैं : 'क्या 'कामायनी' में सामान्यीकरण तथा निष्कर्ष यथार्थ से संगति रखते हैं ? क्या वे निष्कर्ष अनुभव-सिद्ध तर्क-शुद्ध अद्यतन ज्ञान-विज्ञान के प्रतिकूल तो नहीं हैं ?" कुछ यही स्थिति उनके प्रासंगिकता के संदर्भ में है। मुक्तिबोध इस प्रश्न को शायद ऐसे पूछना पसंद करते : प्रसाद की काव्य में प्रस्तुत प्रश्नों की प्रासंगिकता कहीं उनके उत्तरों की अप्रासंगिकता में तो पर्यवसित नहीं है ? कहना न होगा कि उत्तर प्रश्न में निहित है।

□

# मध्ययुगीन भारतीय भक्ति में मानवतावाद

डॉ. रमेश कुंतल मेघ

इतिहास का मध्ययुग अपेक्षतया लंबा है किंतु साहित्य का मध्ययुगीन भक्तिकाल अनुपात में छोटा। भक्तिकाल में निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण प्रेमाश्रयी सगुण रामभक्ति, तथा सगुण कृष्णभक्ति की धाराएँ प्रवाहित मानी गई हैं जिनमें दूसरी सूफी रहस्यवाद एवं इश्क-हकीकी की धारा भी है तथा पहली पर इस्लामी ऐकेश्वरवाद का प्रभाव है। अतः पहली बात तो यह है कि हम इस दृष्टिकोण को संदेह के घेरे में छोड़ दें जिसके अनुसार भक्ति का उभार मुसलमानों द्वारा हिंदुओं पर अत्याचार करने के कारण हुआ और यह एक पराजित जाति की भगवतशरणागति की प्रार्थना थी। ऐसा मान लेने पर तो मध्ययुगीन संतसाहित्य में राष्ट्रीय एवं मानवतावादी तत्वों की अन्वीक्षा करने वाली हमारी संगोष्ठी ही व्यर्थ हो जाएगी।

भक्तिकाल के प्रभामंडल में सर्वाधिक देदीप्यमान वर्ष-पुंज लगभग पचास ही रहे हैं जो सन् 1580 ई के नवजागरण या "पुनर्जागरण" के आसपास के हैं और यह वर्ष-पचासा मुगल शहंशाह अकबर (1556-1605) के शासनकाल में पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी ध्यातव्य है कि इसी पचासे में महान अकबर ने अब्दून नबी और मखदूनुल मुल्क जैसे कट्टरों का निष्कासन किया, केंद्रीय "सदारत" भंग की , गोबध बंद किया तथा इस्लाम के मुताबिक काफिरों पर "जजिया" नहीं लगाया। यही नहीं , बल्कि अबुल फजल कहते हैं कि यह भी फैसला किया गया कि मर्देकामिल (मर्यादापुरुषोत्तम) अकबर बादशाह का राज्य भी "सुलह-ए-कुल" (मतों का समन्वयवाद) के सिद्धांत पर चलेगा जिसमें "तकलीद" (रूढिवाद) के बजाय "अक्ल" (विवेक, न्यायोचित्य) की प्रमुखता रहेगी। यही हुआ भी। अकबर के शासन के उस पचासे में जब माहौल ही ऐसा होने लगा तो सूरदास ने गोवंश, गोकुल, गोपालों तथा गोचारणों का माधुर्यभक्ति वाला संसार रचा; तथा तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम और उनके राज्य में सर्वांगीण समन्वयवाद का प्रतिपादन किया। हमें भारतीय, विशेषतः उत्तर-पश्चिम के भारतीय मानवतावाद के केंद्रीय तत्व मिल जाते हैं - संघर्ष एवं युद्ध के बजाय वैचारिक तथा व्यावहारिक समन्वयवाद, हिंदु-मुसलमानों की एकता (सुलह), सर्वजन समाज कल्याण (सुलह-कुल) तथा मनुष्य का नैतिक उत्थान (उद्धार)।

इसी उपक्रम में हम मध्यकाल में राष्ट्रीयता के सवाल में भी झाँक लें।

मध्यकाल (मेडिईवल एज) के पहले हम मध्यवर्ती काल (मिडल एज) मानकर कई गुत्थियां सुलझाने की ओर बढ़ सकते हैं, बशर्ते कि हमारा नजरिया सांप्रदायिकतावादी न होकर उदार राष्ट्रायवादी हो। सम्राट हर्ष (सातवीं शताब्दी) से लेकर चंगेज़ खां के विध्वंस और नरसंहार (1399) तक अर्थात् सातवी शती से लेकर, गुलाम वंश (1206-1290) तथा खिलजी वंश

(1280-1311) के दौर से गुजरते हुए, चौदहवीं शती तक मध्यवर्ती काल है । इस दौरान मध्य-एशिया के घुमंतू कबीलों के झुंड लूटमार, मारकाट, हमले-आगज़नी करते रहे और समृद्ध तथा उर्वर भारत के लाहौर-दिल्ली तक को तलवार के घाट कई बार उतारते रहे । अफगान तुर्कों के इस बर्बर-चक्र ने भारत में कई खूनी और अंधी शताब्दियां दिखाई जिससे भारत में मानवता, सांस्कृतिक सर्जन, सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई । अफगानों ने इसे कुछ सँवारा । लोदी वंश (1448-1526) तथा सूरी (विशेषतः शेरशाह सूरी) ने अफगान-भारत वासियों की धुरी बनाकर तुर्कों और कबीलों की बर्बरता कम की । बाबर तुर्क-चुगताई था । उसने अफगान सत्ता समाप्त करके मुगलवंशों (1526-1857) की नींव डाली । किंतु उसके वंशज़ों को भारतीय राजपूतों तथा अफगानों से समझौता करना पड़ा । अकबर तो काफी समय तक अफगानों को नापसंद करते रहे तथा अपने प्रमुख सांस्कृतिक तथा आर्थिक संपर्क ईरान से मज़बूत बनाते रहे । पहले भारत से पत्थर की इमारतों के, पीतल और चांदी के बर्तनों के, कपड़ों और कालीनों के कारीगर गुलाम बनाये जाकर केंद्रीय एशिया के मुसलमान कबीलों द्वारा ढोये जाते रहे । अब वे ही अपने भारत-ईरानी सांस्कृतिक समृद्धि को ईरानियों के माध्यम से ईरान-भारतीय सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में लाये । यह भी मुगल वंश में अकबर के शासनकाल में घटा । हम इसे मध्यकालीन राष्ट्रीयता अथवा सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का नाम दे दें जो हिंदुस्तानी मौसीकी, मुगलराजपूत चित्रशैली, मुगल वास्तुशैली, तथा मुग़ल-अफगान प्रशासन प्रणाली के रूप में पल्लवित पुष्पित हुआ और जिसका सर्वोत्तम रूप तुलसीदास की कवितावली था विनयपत्रिका में दृष्टिगोचर और सूरसागर में परिलक्षित होता है । हमारी यह राष्ट्रीयता अफगानों-मुगलों और भारतीयों की सुलह-कुल रही - भारतभूमि में भारतवंशी तथा भारत में आव्रजी भारतवासी - घुलमिल गए । शासन और न्याय के क्षेत्र में यह सामंजस्य बहुत अधिक हुआ; दर्शन और नैतिकता के क्षेत्र में भेदभावों, बाह्य आडंबरों तथा अंधविश्वासों पर चोट करने के लिए हुआ; तथा समाज में जात-पांत के विरोध में और एक शुद्ध वर्णाश्रम धर्म के पुनरुत्थान की आकांक्षा में हुआ । अतः मध्यकालीन संतों और सूफियों के मानवतावाद में जातपांत के ऊपर मानव की श्रेष्ठता का, तथा राष्ट्रीयतावाद में हिंदु-मुसलमान एकता का व्यावहारिक लक्ष्य सिद्ध हुआ । साहित्यिक नैतिक शब्दावली में इसे "लोकमंगल" कहा जा सकता है - पहला उसकी सिद्धावस्था है, तथा दूसरा उसकी साधनावस्था । अभी यह बात कुछ दूर की कोड़ी लाने जैसी लगेगी । हम जब यह पाते हैं कि हिंदी साहित्य का आदिकाल (1000-1400 ई. : हजारी प्रसाद द्विवेदी ) हमारे परवर्ती इतिहास का मध्यवर्ती काल है तथा भक्तिकाल मध्यकाल में मुगलों का उत्तरार्ध है (विशेषतः सोलहवीं शती के उत्तरार्ध के पचास वर्ष) तो बात बहुत असंगत नहीं लगती । इस मध्यवर्ती काल पर हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं - "चौदहवीं शताब्दी तक हिंदी भाषी प्रदेशों में देशी भाषा का साहित्य कैसा था । इस बात की धारणा बहुत अस्पष्ट रूप में ही होती है । हम केवल इतना जानते हैं कि पूर्वी प्रदेशों में सहजयानी और नाथपंथी साधकों की साधनात्मक रचनाएं प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, श्रृंगार और कथानक-साहित्य की कुछ रचनाएं उपलब्ध होती हैं । एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृति का प्राधान्य है और दूसरी में नियमनिष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्तर है; एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी में ऐहलौकिक वायुमंडल में । चौदहवीं -पंद्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनाएं एक में सिमटने

लगी थीं। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है।

अब जरा वज्रयानी सिद्धों तथा शैवपंथी नाथों से आगे इन संतों-भक्तों को भी पहचाने - कबीर, नानकदेव, सूफी मुरीद, मलिक मुहम्मद जायसी, लोकलाज तजकर पगघुंघरु पहनने वाली राजकुंवरि मीरा, रैदास, मेहता नरसी, अनाथ- तुलसीदास, नामदेव, गोरा, सांबता, नरहरि, खेचर विसोवा, चारेवाला, बंका, सेना, वैश्य सुंदरदास, किसान धन्नर, मलंग दादू, सदना, इत्यादि इत्यादि। जाहिर है कि ऐसे अपने ढंग के अकेले साहित्य में "संत" लोकनेता की भूमिका में आ गए। शहंशाह से बडे "ठाकुर" (ईश्वर) हो गए; वज़ीर और सिकदार और कोतवाल से ज्यादा महत्व के "गुरू" हो गए। भक्त-भगवान और गुरू का एक ऐसा नया त्रिकोण बना जो मानवतावाद के अगले कई तत्वों को उद्घाटित करता है। मसलन, भक्त और भगवान के बीच अंतरंग व्यक्तिगत संबंध; भक्त और भगवान की समानता, भक्तों की भगवान के साथ अनुग्रहपूर्ण लीला; भक्त द्वारा भगवान का प्रेम प्राप्त करना क्योंकि भगवान प्रेम के वश में हो गए। इसलिए उच्च वर्गों की समृद्धि तथा भोग और शान-शौकत का कट्टरविरोध पंचविकारों (काम, क्रोध, मद, लोभ, और अहं) तथा जातपांत को त्यागने की कार्यप्रणाली में हुआ। भक्त और भगवान के व्यक्तिगत रिश्तों के घेरे में अजामिल, गणिका, शिला, शबरी, निषाद के साथ-साथ गीध (जटायु) और गज भी शामिल हो गए। साधना के क्षेत्र में यह अद्वितीय बराबरी और अद्वैत भाव था। विलायती मानववाद के विपरीत मध्यकालीन भारतीय मानवतावाद में एक ओर तो अंधविश्वासों के बजाय ज्ञान को प्रधानता दी गई (अबुल फ़जल) और दूसरी ज्ञान के बजाय भावावेश (भक्ति) को विवेक माना गया (वैष्णव, सूफी)। सत्य की पहचान में अन्यथाकरण (डिसटार्शन) इस तरह हुआ कि वह इहलौकिक के बजाय पारलौकिक और रहस्यवादी भी हो गई। समाज की विकृतियों, शताब्दियों की कठोर रूढ़ियों, जनता की अशिक्षा और अंधविश्वासों का खंडन प्रबल रहा किंतु ये संत-भक्त हमें सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों के बजाय कल्पलोकों (यूतोपियाओं) जैसे बैकुंठ, आदि की ओर ले चले। इन अंतर्विरोधों के कारण ही भक्ति -आंदोलन का उत्कर्ष लगभग पचास वर्षो तक का ही रहा और इसके पश्चात् यह मशाल बुझ-सी गई।

तथापि इसकी सकारात्मक उपलब्धियां विशाल एवं विराट हैं। जनसंस्कारों और लोकशिक्षा वाली लोकबोलियों को साहित्यिक एवं सांस्कृतिक ऊँचाइयां मिलीं जिससे लोक सौंदर्य दृष्टियाँ प्रमुख हुई। भक्ति साहित्य के उपमानों और दृष्टांतों का जो अद्भुत संसार रचा गया उसमें जुलाहों, सुनारों, व्यापारियों, मछुआरों, कुम्हारों, शिकारियों, मालियों, किसानों आदि के पेशों के बिंब, अलंकार उपमान, प्रतीक आदि जगमगा उठे। बेशक, यह एक अनुपम क्रांति थी। एक प्रमुख ऐतिहासिक कारण यह भी था कि देहातों, कस्बों, खेड़ों से ये दस्तकार निम्न दर्जे के लोगबाग व्यापारिक मार्गों, यात्रा-स्थानों, मंदिरों और पुरियों के निकट बस गए थे जिससे शहरी किस्म की व्यापारिक तथा दस्तकारी बस्तियां कायम होने लगी थीं। यह द्वितीयक शहरीकरण था जो प्राथमिक (पवित्र) शहरीकरण से अगला चरण था। मध्यकालीन शहरों की केंद्रीय सिफ़त व्यापार थी। परचून किस्म के बनिज घरेलू मंडियों का विस्तार कर रहे थे। अतः वर्ग-विभाजन में तो ये हस्तकौशलकार निचले थे, अछूत भी थे, लेकिन निजी कारबारों की वजह से स्वाधीन कौतुंबिक भी थे। यद्यपि इनके दस्तकारी श्रम की लूट-खसोट जारी थी तथा ये भी शनैः शनैः कारखानों के नौकर-चाकर हो चले थे। इस प्रक्रिया के बढ़ने-फैलने के साथ-साथ हमारे भक्ति-आंदोलन का

पुनर्जागरण भी क्षीण-क्षीणतर होकर पचास साल में ही बुझ गया। भक्तों की भक्ति को मुख्यतः व्यापारी-दस्तकार-किसान स्तरों से समर्थन मिला था। बाद में ज्यों-ज्यों लगान तथा कर (किराया, ज़कात, चुंगी, दलाली, नजराना) आदि जिन्स के बजाय नकदी होते चले त्यों-त्यों किसानों की सामंती लूट बढ़ती गई और भक्ति-आंदोलन तथा भक्तों के मानवतावाद, दोनों की रीढ़ टूटती गई। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानवतावाद की बाहरी छवियां चाहे कितनी ही शाश्वत् और आध्यात्मिक प्रतीत हों उनकी नींव सदैव सामाजार्थिक ही होती है। अन्यथा संकल्प या साधना के घटक के क्षीण होते ही व्यापारी और हाकिम, फौजी और सुलतानों का तंत्र फैल जाता है। वहीं भोग और जुलुम और जंग के सिलसिले चलने लगते हैं, अकबर-जहाँगीर की हुकूमत के बाद।

आधुनिक प्रासांगिकता के लिए मध्यकालीन संतों का मानवतावाद कुछ कसौटियां देता है –

इनके रहस्यवादी आयाम (कबीर, मीरा) हमें जादू और चमत्कारों से निकालकर रहस्यानुभूति के मनोलोक में ले जाते हैं। वे कौन से लोक हैं जिनकी ये रहस्यवादी संत तलाश करते हैं और जिनकी रिपोर्ट हमसे (आज) करते हैं। अष्टचक्र, सहस्रारकमल सुन्नमहल के अनुभव मात्र अंतर्दृष्टियों और स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तो नहीं हैं ?

संतों की मानव-प्रकृति संबंधी अवधारणा आध्यात्मिक है। तथापि महायानियों की तरह इनका आदर्श भी मर्यादापुरूषोत्तम, पूर्णपुरुष या विश्व-भ्रातृत्व है। मानवप्रकृति में गहराई से धसे हुए बाहय आडम्बरों तथा अंधविश्वासों पर ये कठोर प्रहार करते हैं। ये दुर्जनों, पाखंडियों तथा धूर्तसंतों की मुल्लाओं और पुरोहितों की धज्जियां उड़ाते हैं (कबीर, दादू, तुलसी)। ये मानव-प्रकृति के विकास में लोकमंगल की ऐसी साधना तथा आधिदैहिक परितापों का अंत हो जाए। ऐसा व्यक्ति "संत" है जो समाज-कल्याणार्थ जीवन का उत्सर्ग करने वाला होता है। संत गृहस्थ के माध्यम से भी मोक्ष पा सकता है (नानक, सूर, तुलसी, जायसी)।

इसी तरह इनके मानवतावादी मानपट पर एक संतुलित समाज-संरचना भी झिलमिलाती है जिसकी आधिभौतिक परिणति "राम-राज्य" है। भक्तिकाल के पहले कभी भी इतनी साकार आवश्यकता नहीं उभरी जो रामराज्य के मोक्ष और उद्धार वाले स्वतंत्र लोक में प्रतिफलित होती। यह लोकमंगल की मानवीयकृत राजनीति द्वारा निर्देशित है। यहां कोई अन्य विकल्प तो नहीं उभरा किंतु वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था को ही परिष्कृत कर लिया गया है। इसका प्रतिपक्ष "बैकुंठ" है जहां जातिभेद, कुलभेद, वर्गभेद की परिधि लांघ ली गई है एवं आनंद और सिद्धि है। यही वैष्णव संतों-भक्तों की उदारता और विश्वमानवता है। ..

□

# प्रेमचंद और हिंदी कहानी

डॉ. रत्नलाल शर्मा

आधुनिक हिंदी कहानी की विकास-यात्रा का पहला पडाव प्रसाद-प्रेमचंद के कथा साहित्य में देखा जा सकता है जिसमें प्रेमचंद का प्रभाव-क्षेत्र अवश्य ही देशकाल की दृष्टि से कहीं अधिक व्यापक है। हिंदी कहानी में जयशंकर प्रसाद का कृतित्व प्रेमचंद से पहले हमारे सामने आया और ये दोनों कहानीकार काफी समय तक समानांतर लिखते रहे, पर कहानी की रचनात्मकता में दो ध्रुवों पर रहे हैं। दोनों के कथ्य और शिल्प में ही नहीं, अपितु उन की दृष्टि में भी भिन्नता है। प्रेमचंद समाज हित और समष्टि चेतना को आधार बनाते हैं तो प्रसाद व्यक्ति-हित और व्यष्टि चेतना को उभारते हैं।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में अपने आसपास के जीवन का अंकन किया है, यथार्थ का आधार लिया है और आम आदमी को प्रमुखता दी है। प्रसाद मुख्यतः अतीत और इतिहास में जाते हैं, कल्पना का रंग चढ़ाते हैं और अतिशय भावुकता-समन्वित दृष्टि को अपनाते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक हैं और उनमें यथार्थ की मजबूत पकड है। प्रसाद की परंपरा को उसी युग में कुछ कहानीकारों ने अपनाया था और आगे भी एकाध कहानीकार पर उन का प्रभाव है, पर प्रसाद-परंपरा लगातार चल नहीं पाई। इतना ही नहीं, प्रसाद परंपरा के कहानीकारों ने कोई श्रेष्ठ कहानी नहीं दी। प्रेमचंद की परंपरा निरंतर अक्षुण्ण बनी रही है और उसने निश्चित ही अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ दी हैं। यह हिंदी कहानी का पहला प्रस्थान बिंदु है।

आधुनिक हिंदी कहानी का दूसरा प्रस्थान बिंदु जैनेंद्र कुमार की कहानियों में लक्षित होता है जहाँ अतर्मन के रहस्यों और संघर्षों को उद्घाटित किया गया। वैसे वह प्रारंभ में प्रेमचंद के पथ पर ही चले थे, पर आगे चल कर उन्होंने अपना स्वतंत्र मार्ग बना लिया। इस से हिंदी कहानी में विविधता आई और उस का नया आयाम खुला।

प्रेमचंद समससामयिक यथार्थ के संदर्भ में व्यक्ति और उसकी समस्याओं का चित्रण करते हैं और कही कुछ अनुचित है तो उस का प्रतिरोध करते हैं। इस प्रकार वह कहानी में उचित-अनुचित का विवेक देते हैं और जीवन को जानने योग्य बनाते हैं। जैनेंद्र व्यक्ति के भीतर इतने गहरे उतर जाते हैं कि वह भीतरी उथल-पुथल में ही रह जाते हैं। न वह कहीं विरोध-प्रतिरोध कर पाते हैं और न कोई निराकरण ही दे पाते हैं, बल्कि जीवन को और अधिक जटिल एवं कठिन बना देते हैं तथा सीधे-सीधे विवेक न देकर दर्शन की गुत्थियाँ सुलझाने लगते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में जीवन के अनेक क्षेत्रों से पात्र लिए गए हैं, पर उनके अधिकांश पात्र सामान्य जन-जीवन से लिए गए हैं। जैनेंद्र के पात्रों में इतनी विविधता और व्यापकता नहीं है। वह अधिकांशतः मध्य वित्त वर्गीय जीवन से लिए गए हैं जहाँ जीविका की समस्या नहो है। यानी

अर्थ और व्यवस्था से सामान्यतः मुक्ति की भावना है । अतः उन में सेक्स, अतृप्ति, कुंठा आदि स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं ।

समय आगे बढ़ता गया और सामाजिक-राजनीतिक आर्थिक स्थितियों के साथ-साथ व्यक्ति एवं समाज में बदलाव आता गया । तब ऐसा महसूस होने लगा कि तत्कालीन प्रचलित कहानी रूपों में इस बदलते हुए जीवन को नहीं समेटा जा सकता और इसके लिए नए कहानी रूप को विकसित किया जाए । यहीं पर आधुनिक हिंदी कहानी का तीसरा प्रस्थान बिंदु आ कर जुड़ गया जिस के संवाहक यशपाल हैं और जो प्रेमचंद से बहुत दूर नहीं हैं । इस का कारण दोनों में समष्टि भाव का होना है ।

अवश्य ही प्रेमचंद और यशपाल की कहानियों में समष्टिगत चिंतन की समानता मिलती है, फिर भी दोनों की कहानियों में नितांत भिन्नता है जिसका मुख्य कारण है दोनों की एप्रोच में भिन्नता । यशपाल ने प्रेमचंद को दुहराया नहीं और न ही विस्तार दिया, अपितु प्रेमचंद ने समाज के चित्रण को कहानी में जिस जगह छोड़ा था, यशपाल ने उसे आगे बढ़ाया और यथार्थवादी दृष्टि को अपनाया । हिंदी कहानी में प्रगतिवादी-मार्क्सवादी दृष्टि सबसे पहले प्रेमचंद की कहानियों में ही मिलती है, पर प्रगतिवादी आंदोलन की रचनात्मक प्रतिष्ठा यशपाल के आगमन से ही संभव हो सकी ।

आगे चलकर स्थितियां फिर बदलीं और साथ ही दृष्टि में भी अंतर आ गया । भारत सुदीर्घ काल के स्वातंत्र्य संघर्ष के उपरांत सन् 1947 में स्वतंत्र हो गया, पर सामान्य जन जीवन में विशेष परिवर्तन नहीं आया । कहानी का जो ढर्रा चल रहा था, उसमें तत्कालीन यथार्थ जीवन का चित्रांकन नहीं हो पा रहा था । इसलिए हिंदी कहानी में एक और प्रस्थान-बिंदु आया जो नई कहानी के नाम से अभिहित हुआ ।

नई कहानी अपनी पूर्ववर्ती कहानी से कई अर्थों और रूपों में अलग हो गई जिसमें मुख्य था नए युग के संदर्भों के साथ नए कथाकारों की नई दृष्टि । पूर्ववर्ती कहानी में पात्र-स्थिति आदि गौण हो जाते थे और केंद्रीय भाव या विचार मुख्य हो जाते थे । नई कहानी ने व्यक्ति को उस के संदर्भों में चित्रित किया जिसके साथ यथार्थ दृष्टि और प्रामाणिक अनुभूति का संयोग हुआ । इस प्रकार कथ्य और शिल्प में नवीनता आई । प्रश्न है, क्या यह नवीनता इस हद तक है कि इससे पहले यानी प्रेमचंद की कहानियों में इस का कोई रूप मिलता ही नहीं ?

इस सिलसिले में कहा जा सकता है कि राजनीतिक और सामाजिक वातावरण के कारण शिल्प और वस्तु में प्रयोग प्रेमचंद की कहानियों से ही आरंभ हो गए थे । 'नशा', 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्ति', 'कफन', 'पूस की रात', 'ईदगाह' 'शतरंज के खिलाड़ी' और ' सवा सेर गेहूं' जैसी प्रेमचंद की कहानियां एक दूसरे से अलग और अपने आप में प्रयोग हैं । ये कहानियां भीतर-बाहर के द्वंद्व को प्रस्तुत करती हैं, व्यक्ति और उसके माध्यम से समाज को अंकित करती हैं । इन में चरित्र-चित्रण की बारीकियां तो हैं ही, कथाहीनता की स्थिति भी है । नई कहानी में कहीं कहीं प्रेमचंद का अस्वीकार है, पर अधिकांशतः स्वीकर है ।

नई कहानी के बाद अकहानी आंदोलन आया जिसने प्रेमचंद के मार्ग को छोड़ दिया और कहानी जीवन-मूल्यों के विरूद्ध खडी हो गई । प्रेमचंद ने गिरते हुए जीवन-मूल्यों का चित्रण किया है, पर वह जीवन-मूल्यों को कभी नहीं छोड़ सके । इसके साथ ही सचेतन कहानी आंदोलन प्रारंभ हुआ जिसने एक बार फिर प्रेमचंद का पथ अपना लिया ।

कई बार स्थितियां अत्यंत सशक्त होती हैं और वे व्यक्ति को तोड़ देती हैं, पर ऐसा भी होता है कि व्यक्ति उन से टक्कर ले और अपने लिए नई राह चुन ले। यदि नई राह नहीं मिलती तो भी प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने समर्पण तो नहीं किया जा सकता। यहाँ कहानीकार के सामने नए सृजन का दायित्व रहता है। शर्त यह है कि संघर्ष और सृजन के बीच वास्तविक मनुष्य बना रहे। ये स्थितियाँ और संभावनाएँ समांतर कहानी के समय विद्यमान थीं, उस से पहले नई कहानी के समय ही नहीं, प्रेमचंद के समय भी बनी हुई थीं। प्रेमचंद की कहानियों में इस के विभिन्न रूपों की झलक मिलती है।

सक्रिय कहानी में सक्रियता को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है जो मूल्यों की स्थापना करती है और इसे 'ऊर्जा प्रसूत सक्रियता' कहा गया है। इस की दिशा वही है जो प्रेमचंद की कुछ चुनींदा कहानियों में दृष्टिगोचर है। सहज कहानी की बात चली तो भी यह पक्ष सामने आया कि कहानी जीवन के लिए होती है, वह समाज की उन्नायक है। प्रेमचंद भी कहानी से ऐसी अपेक्षाएं रखते थे और प्रेमचंद से उनके पाठकों की यही अपेक्षाएँ हैं।

वास्तव में प्रेमचंद आधुनिक हिंदी कहानी के पितामह हैं और आज भी उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है। वह प्रकाश स्तंभ हैं जिनसे उत्तरवर्ती कहानी को प्रकाश मिलता रहा है। उन्होंने कहानी में युग-बोध भर दिया। इसीलिए नई कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी, सहज कहानी और सक्रिय कहानी के रूप प्रेमचंद की संकेतित दिशाा में युगानुकूल परिवर्तन के साथ स्थापित हुए हैं।

प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को कल्पना-लोक से निकाल कर मनुष्य के यथार्थ लोक में प्रतिष्ठित कर दिया, पर उल्लेखनीय है कि यथार्थ की भी सीमाएं होती हैं और वह उतना ही ग्राहय होता है जितना अमुक व्यक्ति पचा सकता है। इस संबंध में प्रेमचंद के विचार इस प्रकार हैं - "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ, स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अतिरंजित हो कर कहानी बन जाती हैं, मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है।" (प्रेमपीयूष, पृ -6) उन के अनुसार कहानी जीवन का चित्रण ही नहीं है, बल्कि नई सृष्टि भी है और जीवन को कुछ देती भी है।

प्रेमचंद की पहली प्रतिष्ठित हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर' (1916 ई.) से लेकर उन की अंतिम सर्वाधिक चर्चित कहानी 'कफन' (1936 ई.) तक उन की कथायात्रा है जिसके विकास की निश्चित दिशा है और जिस के बीच कई पड़ाव हैं। उन्हें दाय के रूप में जो कहानी मिली थी, वह परिपक्व नहीं थी और जासूसी ऐयारी आदि के कथा साहित्य के बीच में से नई राह बनाई और परिष्कृत कहानियां दीं।

उनकी कहानी की विकास यात्रा के तीन चरण हैं :- (1) प्रारंभिक कहानियों में मध्यकालीन महानता की झलक, (2) मध्यवर्ती कहानियों में उदात्त भावनाओं की प्रवृतियाँ और (3) उत्तरवर्ती कहानियों में यथार्थ का नया संवेदन। इस प्रकार वह आदर्श से चलकर यथार्थ लोक में ही रम गए। इस क्रम में अनुभव की व्यापकता उत्कृष्टता और गहनता के साथ-साथ उन की दृष्टि बदलती चली गई। यह परिवर्तन और विकास उन के कथ्य एवं दृष्टिकोण में ही नहीं आया, अपितु कला के स्तर पर भी क्रमशः परिपक्वता दृष्टव्य है।

प्रेमचंद के समकालीनों ने उनके तीन सूत्रों को अपनाया -(1) सामान्य जीवन में से कथ्य का चयन, (2) प्रौढ़ कहानी कला, और (3) युग जीवन का चित्रण। उनकी परंपरा को अपनाने वाले दो प्रमुख समकालीनों और उनकी कहानियों के नाम इस प्रकार हैं - विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक (ताई, रक्षाबंधन), सुदर्शन (गंगा सिंह, हार की जीत), कुछ अन्य नाम इस प्रकार हैं - ज्वाला दत्त शर्मा (विधवा), वृंदावनलाल वर्मा (शरणागत) और सियाराम शरण गुप्त (काकी, बैल की बिक्री)। उल्लेखनीय है कि वर्मा और गुप्त ने जो कहानियां प्रसाद से प्रभावित होकर लिखीं, वे अपना स्थान नहीं बना सकीं, किंतु प्रेमचंद की परंपरा में लिखित उन की कहानियां अपनी पहचान छोड़ गईं।

सामान्यतः इन कहानीकारों का कथा शिल्प प्रेमचंद के कथा शिल्प जैसा ही था, अपितु प्रेमचंद की कुछ कहानियों से अधिक सुगठित था। कहानी का उद्देश्य और कहानी में व्यक्ति एवं समाज की चेतना की पकड़ भी लगभग वैसी ही थी। उनमें आदर्श का सूत्र निरंतर प्रवहमान और अत्यंत सुदृढ था। फिर भी, ऐसा कुछ था जिसका अभाव इन कहानीकारों की कहानियों में विद्यमान था। स्पष्ट ही यथार्थ पर उनकी पकड इतनी सुदृढ़ नहीं थी और न ही उनके पास इतनी सूक्ष्म अन्वेषण-दृष्टि थी जितनी प्रेमचंद की कहानियों में लक्षित होती है। प्रेमचंद की परंपरा आगे भी अबाध गति से चलती रही है।

प्रेमचंद ने परंपगगत श्रद्धा, आस्था तथा जीर्ण रूढ़ियों पर प्रहार किए हैं और नई मूल्य चेतना जगाने का प्रयत्न किया है। उन की कहानियों पर एक ओर गांधीवाद और दूसरी ओर साम्यवाद का प्रभाव है। इसलिए उन की कुछ कहानियों में हृदय-परिवर्तन मिलता है जैसे 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'मुक्ति मार्ग' में। इसके साथ-साथ वह सत्याग्रह और आंदोलन का चित्रण भी करते हैं जैसे 'जुलूस', 'समर यात्रा' में। दूसरी ओर 'सवा सेर गेहूँ' जैसी कहानियों में वर्ग भेद का चित्रण मिलता है जहां शोषित और शोषक का द्वंद्व है। इन कहानियों का परिवेश सामाजिक या पारिवारिक यथार्थ है जो संबंधों, मूल्यों और अभावों के जटिल सूत्रों से बुना गया है।

उनकी कहानियों में कोरा आदर्श है जो मुख्यतः ऐतिहासिक कहानियों में मिलता है जैसे 'मर्यादा की बेटी', 'राजा हरदौल', 'रानी सारंधा। ये कहानियां भावुकता से ओत-प्रोत हैं जिनमें हत्या या आत्महत्या का सिलसिला है। भले ही इनमें ऐतिहासिक सचाइयां हों, पर कहानीकार की रचनात्मकता और वैचारिक दृष्टि नहीं है। ये कहानियां कला की दृष्टि से भी कमजोर हैं जिनमें न उनके आदर्शों एवं विचारों की रक्षा हुई है और न यथार्थ की मजबूत पकड़ ही है।

उनकी अधिकांश कहानियों का आधार यथार्थवादी है और तदनुकूल निर्वाह भी है, पर अंत में ऐसा लगता है जैसे आदर्श की स्थापना की जा रही हो। इन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानियां कहा गया है। मुझे लगता है, इनमें यथार्थवाद का चित्रण ही है, पर अंत जिस ओर जा रहा है वह संभाव्य यथार्थ का नमूना है। कहा जा सकता है, जीवन के प्रवाह की कोई निर्धारित दिशा नहीं होती, वह किसी भी स्थल पर मोड ले सकता है या उसे मोड़ दिया जा सकता है। यही स्थिति कहानी में भी हो सकती है।

एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। उनकी एक कहानी है 'नमक का दारोगा' जो पूरे यथार्थ पर टिकी है और संभाव्य यथार्थ की कहानी है। कथानक वंशीधर नकम के दारोगा के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है, पर अपराधी छूट जाता है और कर्तव्यपालक नौकरी से मुअतिल हो जाता है। घर की गरीबी उसे मुँह चिढ़ाती है और जिस सेठ को पकड़ा था, वह उस के लिए अपनी रियासत में मैंनेजर के पद का प्रस्ताव लेकर आता है। उल्लेखनीय है कि यह सेठ की उदारता नहीं

है, बल्कि एक ईमानदार व्यक्ति को फँसाकर उसे बेईमान बनाने की चाल है । यह दूषित समाज व्यवस्था पर करारी चपत है जहाँ यह दिखाया गया है कि भ्रष्टाचार किस प्रकार पनपता है । इसी क्रम में उनकी अन्य कहानियां इस प्रकार हैं – 'कज़ाकी', 'मुक्ति का मार्ग', 'मंत्र', 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर'।

तीसरे वर्ग की कहानियों का संपूर्ण रचना-संसार यथार्थ लोक की कठोर भूमि पर स्थित है । यहाँ कहानीकार ने व्यक्ति को केंद्र में रख कर समष्टि का चित्रण किया है । सभी जानते हैं कि समाज दो वर्गों में विभाजित है - निर्धन और धनवान । पीढ़ियों से निर्धनता के चक्र में पिसता हुआ व्यक्ति स्वयं को असहाय पाता है । उसके सामने जैसा अतीत था, वैसा ही वर्तमान है । अतः वह भविष्य के लिए भी आशावान एवं उत्साही नहीं है । उसे ऐसा किसने बनाया ? व्यवस्था ने ही यह चक्र चलाया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यवस्था सदा ही धनवान के पक्ष में रही है ।

'कफ़न' में इसी व्यवस्था के कारण टूटते हुए व्यक्ति घीसू और माधव का चित्रण हुआ है । एक साँस में घीसू बीस वर्ष पहले के एक भोज की याद कर के धनी ठाकुर की प्रशंसा करता है तो दूसरी साँस में कह देता है, "पूछो गरीबों का माल बटोर बटोर कर कहाँ रखोगे । बटोरने में कमी नहीं है ।" इसी क्रम में 'पूस की रात' और 'सवा सेर गेहूँ' आदि कहानियां हैं । 'शतरंज के खिलाड़ी' भी यथार्थवादी कहानी है जिसकी पृष्ठभूमि इतिहास से ली गई है और जिसमें व्यक्ति की मनोवृत्ति का प्रभावी अंकन किया गया है । मनोवृत्ति का अंकन उन की अन्य कहानियों में भी हुआ है जो यथार्थ की झाँकी देती है जैसे – 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी'।

प्रेमचंद की कहानियों में यह यथार्थ दृष्टि तत्कालीन युग-बोध में विकसित हुई है । उनकी कहानियां युग-जीवन की अभिव्यक्ति करती हैं, पर वे उसके पार भी जाती हैं और उनकी अनेक कहानियां अवश्य ही कालजयी हैं । वह अपने युग-जीवन की विविधता के जीवंत कहानीकार हैं । उन्होंने अनेक पात्रों का सृजन किया है जहाँ मजदूर, किसान, पूँजीपति, जमींदार, ग्रामीण, शहरी आदि सभी प्रकार के पात्र हैं, किंतु यह निश्चित है कि वह आम आदमी के आसपास ही चक्कर काटते हैं यानी उसे केंद्र में ही रखते हैं ।

उनकी कहानियां आम आदमी के दुःख दर्द की कहानियां हैं । 'कफन', 'पूस की रात' और 'सवा सेर गेहुँ' आम आदमी की त्रासदी की कहानियां हैं । 'जेल', 'पत्नी से पति', 'मैकू', 'समर यात्रा' जैसी कहानियां तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ी हुई, पर आम आदमी पर केंद्रित हैं । 'दुर्गा का मंदिर', 'कजाकी' और 'आत्माराम' भी आम आदमी की कहानियां हैं । कहानीकार ने कुछ कहानियों में विशिष्ट व्यक्ति उठाए हैं, पर उन की विशिष्टता को सामान्य में बदल दिया है । इन दोनों के बीच एक ही तत्त्व है और वह है अहं जो धन या किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है । कहानीकार ने इस अहं को गला दिया है और पात्र अपने निजी स्वरूप में आ जाते हैं । इस के लिए 'मुक्ति का मार्ग', 'मंत्र' 'पंच परमेश्वर' कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है ।

इस प्रकार प्रेमचंद के समकालीन कहानीकारों से लेकर आज के युवा कहानीकारों ने भी प्रेमचंद को स्वीकार किया है और वह आदर्श बन कर सामने आए हैं । वह आज भी मील के पत्थर हैं जिसे कोई हटा नही सकता और न वह पृष्ठभूमि में जा सकते हैं । फिर भी यह सोचना उचित नहीं है कि आज प्रेमचंद के कथ्य, शिल्प और दृष्टि को ले कर कहानी लिखी जा सकती है । इस के लिए तो प्रेमचंद से लेकर अब तक के सभी पड़ावों को पार कर के आगे जाना होगा । प्रेमचंद से यही लिया जा सकता है कि आज के कहानीकार में आज का युग-बोध हो और युग के

पार जाने की क्षमता हो, यथार्थ की परतों को रचनात्मक आधार पर खोला जाए और यथार्थ के पार जा कर सजृन की दृष्टि हो। इस के अतिरिक्त उस की कहानी परिष्कृत शिल्प से युक्त हो कर कल भी टिक सके।

□

संस्मरण

# रेणु : एक स्मृतिचित्र

**कमला प्रसाद सिंह**

फारबिसगंज के निवासी होने के कारण बचपन से ही उन्हें देखा है, जाना है और आज मेरे अवचेतन की दराज़ में उनकी स्मृतियों के कितने सारे पन्ने मौजूद हैं, जिन्हें ठीक से मैं भी नही कह सकता हूं। कुरेदने पर एक पर एक स्मृतियाँ निकल आती हैं। वैसे सन् 77 से लेकर आज तक उनकी स्मृति में बहुत कुछ लिखा गया है, प्रकाशित हुआ है। आज मैं उनके जीवन की एक ऐसी घटना सुनाता हूँ, जो पीड़ाजनक होने के साथ साथ आपको यह सोचने पर भी मजबूर करेगी कि साहित्य-सेवियों की प्रतिष्ठा जब समाज के आर्थिक स्वार्थ पर चढ़ती है तो किस प्रकार वह चुभती है और, यह भी की आर्थिक स्वार्थ की कसौटी पर यहाँ कलमजीवी कितना उपेक्षित सिद्ध होता है।

घटना सन् 1970-71 की है। रेणु जी की पुत्री की शादी के संबंध में लड़का देखने और उसे मनाने से संबंधित। भारतीय हिंदू समाज का दकियानूसी वैवाहिक विधि का शिकार प्रायः हर व्यक्ति कभी न कभी होता ही है। हां, जिसने सब कुछ छोड़कर बेशर्मी से पैसा कमाने की कला को विकसित किया है वे लोग बहुत आसानी से उस जंगल में इच्छित वर रूपी शिकार को हथिया लेते हैं, या स्वयं बहुत लोहू-लुहान नहीं होते हैं। किंतु कलमजीवी साहित्यकार जिन्हें पैसों से जन्मना बैर होता है, उन्हें बड़ा खरोंच सहना पड़ता है - अपमानित, लांछित और निराश होना पड़ता है। वैवाहिक संबंधों का मैदान जीतना कितना कठिन कार्य है, इस पर एक बार स्व. रामधारी सिंह "दिनकर" ने कहा था - "मुझे आज साहित्य सेवा के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला है। किंतु मुझे तो इससे भी बीहड़ काम करने के उपलक्ष में पुरस्कार मिलना चाहिए था, कि मैंने अपने परिवार की दस लड़कियों की शादियां कराई हैं।" और ज्ञानपीठ का एक लाख का चेक मिलने पर उन्होंने आश्वस्त होकर कहा था - "अब मैं एक पोती की शादी करा लूंगा।" कहने का तात्पर्य कि हिंदी की इन महान हस्तियों को भी समाज ने वैवाहिक बाज़ार में बख़्शा नहीं, उल्टे परेशान किया। साहित्यकार होने की सज़ा दी - "कागज़ क्यों रगड़ते हो? पैसे क्यों नहीं बनाते, ठेकेदारी करते? हम क्या तुम्हारे नाम को चाटें?"

रेणु जी को पता चला कि बिराटनगर (नेपाल) के कालेज में उनके एक स्वजाति का सुंदर शिक्षित लड़का कालेज में नया नया अस्थायी लेक्चरर बना है। उन्होंने सोचा लड़का जब पढ़ा लिखा है, तो उन्हें अवश्य जानता होगा और उचित प्रतिष्ठा भी देगा।

रेणु जी बिराटनगर पहुँचे। साथ में मैं, जयशंकर, चंद्रशेखर देव और एकाध कोई थे। ढूंढ़ कर जब प्रोफेसर के घर पहुँचे तो एक कमरे में चारपाई पर अस्तव्यस्त कपड़े, जूठी चाय की

प्याली, दो-चार पुस्तकों के साथ एक नौजवान को बैठा देखा। किसी भी नये कालेज में नवनियुक्त बैचलर प्राध्यापक का यही हुलिया होता है। नौजवान देखने में साधारण व्यक्तित्व वाला लगता था। उसे सुंदर नहीं कहा जा सकता था। तब ले देकर वैवाहिक बाजार का एक माल जरूर था, जिसपर बहुत सारे ग्राहकों के आते रहने के कारण माँगपूर्ति का नियम लागू हो गया था। उस व्यक्ति का बाज़ार भाव उसके व्यक्तित्व से नहीं, आने वाले ग्राहकों को देखकर कुछ बढ़ा सा नज़र आ रहा था। क्योंकि हमारे मध्य वित्तीय हिंदू समाज में पढ़ा लिखा कुआँरा ज़रा मुश्किल से मिलता है। और, मुश्किल से मिलनेवाला बैंगन भादों में महंगा होता ही है। यहाँ तो लड़के अधिकांश मैट्रिक से बी ए तक आते-आते वैवाहिक हाट में खपा दिये जाते हैं।

नौजवान ने बिछावन से उठकर शिष्टाचारवश हम लोगों को उसपर बैठने को कहा था। उसे किसी स्रोत से पता चला था कि रेणु जी उसे देखने आने वाले हैं। मगर उसके चेहरे से ऐसा लग रहा था जैसे हम लोग अनपेक्षित रूप में वहां पहुँचे हों। जैसे हम लोग एक निरर्थक प्रयास के लिए पानी पीटने किसी नदी किनारे आये हों। उसकी आंखों में कोई उत्सुकता नहीं थी, और न वह आंतरिक आदरभाव, जो रेणु जी को किसी भी अन्य व्यक्ति से प्राप्त होता था। इसका कारण शायद यह था कि नौजवान उस समय अपना बाजार भाव तीस-चालीस लगाये बैठा था।

रेणु जी सदैव मुस्कराने वाले साहित्यकार थे। और जब स्वाभिमान का प्रश्न आता तो अत्यंत गंभीर भी हो जाया करते थे। मगर दैन्य उनके चहरे पर कभी नहीं देखा गया। तब भी नहीं, जब वे असाध्य तपेदिक के मरीज़ थे और जीवन-मृत्यु से जूझते थे। आज पहली बार उनके चेहरे पर दीनता की एक लकीर मैंने देखी थी। उस नौजवान से कुछ कहते समय, उसकी कोई बात सुनते समय या लोग जब उस नौजवान से कुछ बातें कहते, तो उसे सुनते समय रेणु जी के चेहरे से एक ऐसा भाव टपकता था जैसे यह नौजवान उनका बहुत बड़ा उपकार करने जा रहा है, जैसे उसके भार से दबे से हैं। कठघरा में खड़े किसी निर्दोष व्यक्ति के चेहरे का भाव जज के सामने जैसा होता है - "माई बाप आप सबकुछ मेरे बारे में जानते हैं। आपकी एक कृपा पर मेरा बेड़ा पार लग सकता है" - कुछ वैसा ही भाव उनके चेहरे पर आता-जाता था।

थोड़ी देर बाद निर्णय हुआ कि बैठकी दूसरी जगह होगी। रेणु जी के एक परिचित मित्र के यहाँ हम सभी बैठे। उनके कुछ और परिचित बातचीत में सम्मिलित हो गए। बातें शुरू हुई। रेणु जी के व्यक्तित्व कृतित्व, के साथ-साथ लड़की का रूप, गुण गृहकार्य में दक्षता, साहित्यिक रूचि आदि से नौजवान को अवगत कराया जाने लगा। लोग उसे यह भी बता रहे थे कि रेणु जी के घर में संबंध करके वह एक बहुत बड़ी प्रतिष्ठा के हकदार हो जायेंगे। उनकी नौकरी भी स्थायी करा दी जाएगी। उनको "उचित" दिया भी जाएगा बगैरह, बगैरह। नौजवान सारी बातों को उसी शांति और धैर्य से सुनता रहा था, जैसे महाराज धृतराष्ट्र, संजय के मुंह से महाभारत की कथा बंद आंखों से सुनते रहे थे, और महाभारत का युद्ध भी अबध चलता रहा था। गोया अंधे धृतराष्ट्र के लिए महाभारत सिर्फ एक कथा थी - आचरण में ढालने की बात नहीं थी। उसी प्रकार नौजवान अपना कुछ मंतव्य दिये बिना सबों की सुन रहा था और सिर्फ सुन रहा था, एक आरोपित गंभीरता को ओढे हुए।

रेणु जी रसगुल्ला प्रेमी थे। वैसे लोप्च चाय, कैप्सटेन सिगरेट और अच्छी शराब के प्रेमी भी थे। उन्होंने बिराटनगर के अच्छे होटल से बढ़िया रसगुल्ला मंगवाया। संभावित व महोदय के

लिए विशेष प्लेट सजाये गये और रेणु जी बड़े उत्साह और सदाशयता और दैन्यभाव से वह रसगुल्ला भरा प्लेट अपने हाथों में लेकर नौजवान के सामने खड़े हो गए। लोगों का विश्वास है कि मुँह मीठा होने से व्यवहार में भी मिठास आ जाती है। इसी विश्वास से रेणु जी ने नौजवान के हाथों में रसगुल्ले का प्लेट देना चाहा। उपस्थित लोग हर्षित स्वर में कह उठे - "लीजिए, लीजिए, अब तो मुँह मीठा कीजिए। इतने बड़े व्यक्ति आपने सामने खड़े हैं।" किसी ने बीच में मज़ाक किया - "रेणु जी मिठाई से काम नहीं चलेगा। इन महाशय को अपना नमक भी खिलाइये। नमक का शरियत इनको देना होगा।" लोग ठठाकर हंस पड़े थे। मुझे पूरा स्मरण है, गंभीर बने नौजवान ने संकोचवश नहीं -अनिच्छा से, एक रसगुल्ला उठाकर खा लिया था। और फिर उसी गंभीरत को ओढ़कर बैठ गया था। वहाँ खुशामद करने वाले लोगों को नौजवान, रेणु जी का चक्रब्यूह समझ रहा था और रेणु जी के रसगुल्ला को किसी शिकारी का फैलाया जाल। नौजवान उससे बेलाग निकलना चाहता था। उस नौजवान के इस सामूहिक मनुहार का कारण था, कि उसने स्वयं को ही अपना अभिभावक करार दे रखा था। इसलिए उसके मां-बाप या किसी संबंधी से कोई बात करने का प्रश्न नहीं था।

अब वातावरण थोड़ा तल्ख हो रहा था। रेणु जी के चेहरे पर एक एक क्षण के लिए स्वाभिमान जनिक क्रोध की लाली उभरती थी और दूसरे ही क्षण दैन्य मिश्रित मुस्कराहट चेहरे पर खेल जाती थी। उनका पहला भाव एक स्वाभिमानी लेखक का था, और दूसरा एक लड़की के मजबूर पिता का। तभी मैंने अनुभव किया था कि विवाह योग्य बेटी का पिता होना कितना कठिन और जिल्लत वाला व्यक्तित्व को ढोना है। जिस व्यक्ति के सामने संसार झुकता है, उसे भी किसी ऐरे गैरे लडके वाले के सामने सिर झुकाना पडता है। रेणु जी की स्थिति देखकर मुझे निराला की "सरोज स्मृति" कविता स्मरण हो आई थी, जिसमें निराला ने अपने स्वजाति कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को चुन चुनकर गालियां दी हैं - "चमरौधा जूता पहनने वाले फटे बिवाई के पैर वालों के चरण शायद उन्हें पूजना पड़ा होगा और उनसे निराश होकर उन्होंने कान्यकुब्जों को "खाने वाले पत्तल में छेद करने वाला" कहा था, और अपनी प्यारी पुत्री सरोज का विवाह उन्होंने एक गरीब नौजवान साहित्यकार से करा दिया था।

अब बात चौथे चरण में पहुंच गई थी। लोग उस प्रोफेसर नौजवान को बाध्य करने लगे थे कि वह कुछ निर्णय दे। रेणु जी भी अब ऊब चुके थे और "हां, ना" में उत्तर चाहने लगे थे। अंत में सबको घुलाकर नौजवान की अमृतवाणी फूटी थी - "मैं लडकी देखकर अपना विचार बताऊँगा।"

अब उससे आगे बातें करना बिल्कुल फिजूल था। रेणु जी तमतमाये हुए वहाँ से उठे और फारबिसगंज चल दिये थे। रास्ते में कुछ नहीं बोले थे। मार खाकर नहीं रोने वाली आंखें भीषणता के साथ करूण होती हैं। फारबिसगंज आकर जगदीश मिल में चाय पीते समय उन्होंने भविष्यवाणी की थी - "यह संबंध नहीं होगा - देख लेना। यह आदमी लालची और चिम्मट है।"

और वही हुआ। नौजवान को बाद में रेणु जी के मित्रों ने ज़ोर देकर लड़की दिखलाई थी और उसने नापसंद कर दिया था - " लडकी देहात में पली-बढ़ी है। मुझे . . . अच्छा मैं बाद में लिखूँगा।

इस नौजवान को यह गलतफहमी थी कि रेणु जी चूंकि पटना में रहते हैं इसलिए गांव की पत्नी और बच्चों को उपेक्षित रखते होंगे। और सबसे बडी आशंका थी, कि रेणु जी जैसे फक्कड

साहित्यकार उसे "अपेक्षित" दे नहीं पायेंगे। अपना नाम और "पब्लिक इमेज" के बलपर लोगों के द्वारा दबाब देकर शादी करा कर उसे ठग लेंगे। उन्हें क्या मालूम कि सूरज बहुत ऊपर रहकर भी धरती के पौधों को खुराक पहुँचाता है –बिना किसी भेदभाव के। ठीक उसी प्रकार रेणु जी चाहे बीमार होकर पटना अस्पताल के बेड पर पड़े हों, या पटना, दिल्ली, बंबई में हों – उन्हें एक क्षण के लिए भी पत्नी, बच्चे, गाँव और गाँव की जमीन नहीं भूलती थी। जो व्यक्ति अपनी लेखनी में गाँव के पेड़ –पौधों, खेत–फसल, आम के पेड़ और पोखर की मछली के प्रति सहानुभूति और निकटता रखता हो, वह भला अपनी प्यारी बेटी से कैसे दूर रह सकते थे ?

इस संस्मरण के माध्यम से एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट होती है कि हमारा समाज विवाह के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है। जब एक एम. ए. पास व्यक्ति का सोच विवाह के प्रति ऐसा निष्ठुर और स्वार्थी है – तब साधारण ग्रामीण दकियानूस लोगों की धारणाओं की कल्पना की जा सकती है। दहेज, बेमेल विवाह, बाल–विवाह, सती प्रथा, वधू दहन, तलाक आदि इसी सोच के परिणाम हैं, जिन्हें हिंदू समाज झेलता है। इस देश में पुत्री के पिताओं को जो अपमान, व्यथा और शोषण झेलना पड़ता है, उन झेलने वालों में से एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासकार रेणु जी भी हो सकते हैं। समाज का यह अंधा तराजू सब मडुआ को बाइस पसेरी की दर से कबतक तौलता रहेगा ?

यह दूसरी बात है कि दूसरे ही साल रेणु जी ने अन्यत्र अपनी पुत्री की शादी धूमधाम से संपन्न कराई थी। उदारता से खर्च किया था। दोस्त, संबंधी, साहित्यकार और बारात के लोग सबने मिलकर उनके गांव हिंगना औराही को एक मेला का रूप दे दिया था। रेणु जी व्यस्तता के बीच मुस्कराते हुए हर मोर्चे पर नज़र आते थे – चाहे वह भोजन की पत्तल हो, चाय की प्याली अथवा लड़की की बिदाई के लिये लाये गए सिंदूर, टिकुली, पावडर, साड़ी – सबों की देखरेख तत्परता से कर रहे थे। और बेटी को बिदा करते समय तो बुक्का फाड़ कर रोने लगे थे – बेटी का बाप होना और निभाना खेल नहीं है।

□

# घर, पत्नी और माँ

रामेश्वर शुक्ल अंचल

भगवान ने नारी के हृदय में पति के प्रति प्यार का बीज कुछ ऐसा बोया कि जहाँ पर दुःख पाये वहाँ पर भी वह अपना हृदय देने को तैयार रहे। लेकिन वह सही अर्थ में पति का प्यार पा सके, यह जरूरी नहीं है। शरीर के आधार पर जीवित रहने के बजाय आत्मा के आधार पर जीवित रहने की शक्ति के होते हुए भी समाज उसका जीवन शरीर-प्रधान ही बनाता आया है। शायद नारी के मन में भय की, अरक्षण की भावना भर देना ही पुरुषसत्ता-प्रधान समाज का उद्देश्य रहा हो। नारी के आध्यात्मिक आधार की बात तो उस युग की हो गयी जब वह भी पुरुषों की तरह ब्रह्मवादिनी होती थी, समाज में समान पूजा पाती थी। वैराग्य की मूर्ति बनकर नारी ने ब्रह्मचर्य में मातृत्व माना तो स्त्री का धर्म पुरुषकी सेवा मानने वाले समाज ने आगे चलकर उसे विकृति का नाम दिया। पुरुष ने लज्जा का परित्याग किया है, नीति-अनीति का भेद बिसार दिया है। आज ऐसी स्थिति में जैसे हम किसी जानवर के लिये कह देते हैं कि वह पशु ही तो ठहरा वैसे ही स्त्रियाँ कह देती हैं - आखिर वह पुरुष ही तो है। स्त्री की इस नीतिमत्ता के पीछे कितना यंत्रणा-भोग और तन-मन की उत्पीड़क यातना छिपी है इसकी प्रतीति देखकर ही की जा सकती है।

तीन बड़े बेटों के रहते कृपाशंकर ने दूसरा ब्याह किया। उनका बड़ा लड़का नवीन उसी वर्ष इंटर के द्वितीय वर्ष में मेरे साथ आया था। दोनों छोटे भाई भी नवें और सातवें दर्जे में थे। ऐसे में गृहिणी की आवश्यकता है यह अनुभव कर घर-बाहर सभी ने अधेड़ कृपाशंकर की दूसरी शादी का औचित्य स्वीकार किया। बाईस तेईस वर्ष की आयु तक वर की प्रतीक्षा में बैठी तुलसी चौरे पर जल चढ़ाती, दिया जलाती। लक्ष्मी जब ब्याह कर आई तब वह सरकारी दफतर में बड़े बाबू थे। अपने पति के तीनों बेटों को देखा। मायके में भी बड़े भाई के भी तीन लड़के ही लड़के थे जो माँ से अधिक बुआ से घुले-मिले थे। यहां ये भी विमाता का अर्थ जानने लायक हो चुके थे। नवीन मेरा मित्र था। हम दोनों से दूसरे का कुछ भी न छिपा था। कृपाशंकर जी और अपने पिता की मित्रता के कारण भी मैं नवीन के घर बेहिचक जब चाहता जाता था। तीन वर्ष पहले नवीन की माँ की मृत्यु हुई थी। तब से विधुर पिता ने ही एक प्रकार से लड़कों की देखभाल की थी। दिवंगता पत्नी की बात चलते ही कहते-वैसी स्त्री मिलना दुर्लभ है। बीस साल के विवाहित जीवन में कभी मुझसे किसी चीज की फरमाइश की ही नहीं। मेरी किसी बात पर रोक-टोक करना जाना ही नहीं।

लक्ष्मी तन-मन दोनों की सुंदरता में अपने नाम को सार्थक करती थी। आत्मा की निश्छल आवरणहीनता - सरलता का सार उसकी सलोनी अभिव्यक्ति भरी मुख-मुद्रा पर छाया रहता था -

यद्यपि एक दुबली पतली सलज्ज वाष्पाकुल करुणा भी छिपाये न छिपती थी । पति और तीनों सौतेले बेटों की सेवा में गुलाम की-सी श्रम शक्ति और सती के-से स्नेह के साथ सुबह से ही लगी रहती । दस साढ़े दस बजे जब पति दफ्तर जाते, लड़के स्कूल-कालेज जाते तब लक्ष्मी को अपना होश आता । माँ को इतनी अनथकी मधुरायी गति से अविराम काम में लगी देखकर नवीन सोचता –मां क्या काम करने के लिये ही इस घर में आई है ।

कृपाशंकर ने पत्नी के न रहने पर शरीर की क्षुधा को ही अपना आहार माना हो ऐसा न था । विवाह के बाद भी उनका परनारी-संयोग पूर्ववत् चलता रहा । अब तो घर की ओर से भी बेफिक्र थे । पत्नी ने आकर उन्हें मुक्त कर दिया था । रात को जब जी चाहे लौटते । नवीन पढ़ता मिलता । उसकी कुर्सी टेबिल के निकट चटाई पड़ी लक्ष्मी अधसोयी, अधजगी तरुण अलसता में जब दरवाजा खोलती तो कहते – ऊपर कमरे में क्यों नही रहती ? यहां जमीन पर पड़ी क्या किया करती हो . . .

लक्ष्मी कहती – अकेले अच्छा नहीं लगता । इसीलिये दालान में पड़ी रहती हूँ । मँझलू – छोटकू साढ़े नौ बजे सो जाते हैं । बड़कू पढ़ते रहते हैं । इन्हें भी आड़ रहती है । दूध गरमा देती हूँ – पानी दे देती हूँ । पढ़ने से इनका जी भरता नहीं । इतना ध्यान – इतनी लगन . . . . .

कृपाशंकर 'हूँ ' कहकर ऊपर चले जाते । पीछे पीछे नवोढ़ा लक्ष्मी जाती । पति की थकी थकी-सी निढाल-लेट जाने को उत्सुक मुद्रा देखकर सोचती – इतने सुस्त अवसन्न क्यों हैं । उसे तब पता न था पति इतनी रात कहाँ से – किस रमणकक्ष से आ रहे हैं । पत्नी के हाथ से दूध का गिलास लेकर कृपाशंकर के आँख मूँदते ही लक्ष्मी अपने तृषित तन–मन को भूलकर भी जल्दी सो न पाती । अपने भीतर के सारे प्रवाह से बहाना करते करते वह भी नींद में खो जाती ।

जिस घर में कृपाशंकर रोज जाते थे उसके पास नवीन का एक पुराना सहपाठी रहता था । लगातार फेल होता देखकर उसके पिता ने एक छापाखाने में लगा दिया था । सारी बातें नवीन को जानने को मिल जाती । पर पिता के चाल–चलन पर लड़के का विचार करना उस पिछड़े युग की मध्यम वर्गी मानसिकता के लिये संभव न था । पिता की काफी तनख़ाह वहीं चली जाती है । शाम को दफ्तर से आकर उनके वहीं जाने की चाट बनी रहती जहाँ जाकर उनकी उठने की इच्छा ही न होती । छुट्टी के दिन वे दिन–दिन भर बाहर रहते । लक्ष्मी ने सोचा तो यह था कि पति के रूप में एक नया उन्मादक सुख अवतरित होगा । दांपत्य रस का अचीन्हा आस्वाद, रस भरी बातें, प्रीति सुकोमल व्यवहार से अनुरंजित घड़ियां होंगी । सयाने बेटों के होते हुए भी आत्मविभोर उल्लास वाले रमणीय अनुभव होंगे । पर कहीं कुछ नहीं । उसके मनोभाव करवट बदलते रह जाते । एक विचित्र वेदना की श्रृंखला उसे भीतर बाहर जकड़ लेती ।

नवीन हमारी क्लास का सबसे तेज छात्र था, विचारशील और तीक्ष्ण बुद्धि । हम दोनों प्रायः साथ रहते – सच तो यह है कि ऊपर से सामान्य कुछ कुछ घामड़ दिखने वाले छात्र से मुझे अध्ययन और अनुभूति दोनों की प्रेरणा मिलती । पिता का चाहे जो भाव रहा हो पर लक्ष्मी उसकी मनस्विता पर विस्मित थी – जितना गंभीर उतना ही सहज । छोटे भाइयों को बराबर पढ़ाई करने के लिये समझाता, डाँटता । घर का सारा सामान बाजार से वही खरीद लाता । माँ की पढ़ने में रुचि जानकर कालेज के पुस्तकालय से उनके लिये किताबें लाता । बेटे के सुख-सम्मान में डूबी लक्ष्मी रात को सारे काम निपटा कर नीचे चटाई पर सदा की तरह पड़ी लड़के के लाये उपन्यास, नाटक, कहानी-संग्रह, जीवनियाँ पढ़ती ।

नवीन के प्रति लक्ष्मी का लगाव कृपाशंकर को पिता होकर भी खलने लगा। लक्ष्मी के मन में उन्हें नवीन के प्रति यौनासक्ति का प्रगाढ़ संदेह हो चला। स्वयं अपना अंधकार जैसा निष्क्रिय सर्द व्यवहार भूलकर वे लक्ष्मी के आचरण में खोट देखने लगे। लक्ष्मी का अंतःकरण मातृत्व की विभा से जगमगा रहा था। समय-कुसमय जब पति संदेहमूलक प्रश्न करते तो वह हैरान रह जाती। दोनों की किसी अवांछनीय चेष्टा या स्थिति में पाने, पकड़ने के उनके प्रयत्नों को निष्फल होना ही था। कृपाशंकर और खिसियाते – जैसे सब कुछ जानकर भी कुछ न कर पा रहे हों।

पति की पैनी, गहरी निगाहों की जलन लक्ष्मी को व्यथित करती रहती। कभी-कभी गुनगुनी लाज की लाली जैसी लज्जा उसके कपोलों पर सिहर आती। जो पति रात को इतना निचाट बेखबर सोता था वह बीच बीच में उठकर उसे देखता है –नीचे के बड़े दालान में उतर जाता है जहाँ तीनों बेटों की चारपाइयां और पढ़ने की टेबिलें हैं। अक्सर दोपहर को स्वयं आकर या किसी न किसी बहाने चपरासी को भेजकर पता लेते कि नवीन घर में तो नहीं है। नवीन अपने समय पर कालेज आता जाता। माँ शाम को 6 बजे खाना तैयार कर देती। खाकर घंटे डेढ़ घंटे घूमने जाता – मेरा उसका जब तब साथ हो जाता। इधर मैं उसे चिंतन के गर्त में डूबा-डूबा पाता। एक दिन मेरे पीछे पड़ जाने पर उसने जो बताया उससे में सन्न रह गया। अपने लड़के के ही आदर स्नेह भाव को अवैध मानकर पिता अपनी द्विपरिणिता पत्नी के चरित्र पर संदेह करे। नवीन कह रहा था –कब तक कितना बरदाश्त करूँगा रतन। मैंने तुम्हीं से दिल का दर्द बताया है – भगवान के लिये कहीं न कहना।

'मैं कभी ज़ुबान पर न लाऊँगा। पर तुम क्या सोचोगे ? ऐसी अच्छी माँ पर क्या बीत रही है ?'

कोई फर्क नहीं है। अपनी सगी माँ की भी मुझे याद है। पर ये तो जग से न्यारी है। पिता के व्यवहार का सारा ज़हर पीकर वैसी की वैसी ही हम तीनों की कल्याण कामना में समर्पित हैं। मैं विचलित हो उठता हूँ – उनसे आँख तक नहीं मिलाई जाती, वे उसी तरह हँसती बोलती हैं – एकांत में चाहे जितना रो लेती हों।

एक दिन क्रोध में अंधे होकर जब कृपाशंकर ने पत्नी को कुलटा कहा और खुले शब्दों में नवीन को लेकर उस पर चरित्रहीनता का आरोप लगाया तब नवीन घर पर न था। बकझक कर वह अपने ठिकाने पर चले गये। नवीन घर आया तो माँ की आंखें लाल ही नहीं सूजी-सूजी सी थी, उनका मुँह अवसाद की तरह आग में बह रहा था।

नवीन ने माँ की मुखाकृति देखी – क्या हो गया माँ तुम्हें . . . . . क्या बात है ?

लड़के को देखकर रुद्ध हो गया लक्ष्मी की रुलाई का वेग फूट पड़ा। उसने पति द्वारा लगाये गये आरोप दोहरा दिये। नवीन निस्पंद खड़ा रह गया। बात यहां तक नंगी हो सकती है। लावे जैसा विदारक बल उसके क्षुब्ध मन में बह चला। बोला – तुम जैसी दूसरी माँ बड़े भाग से मिलती है। मैं देखूँगा – अब मैं देखूँगा।

सत्य की आंच से तमतमाई लक्ष्मी ने कहा – तुम अपना मन स्थिर रक्खो। कोई कहा-सुनी न हो। तुम्हारी पढ़ाई में किसी भी प्रकार की मानसिक बाधा न पड़े। समझ लो कुछ हुआ ही नहीं . . . मुझे सारा संताप भोगने दो . . . . हे राम। तुम सब देखते हो - जानते हो।

माँ के इस त्रासद शांत भाव से नवीन समझ गया - कितना दाह सोखकर उनके गले से यह बात निकली होगी। भीतर-भीतर दूर तक उनके प्रति श्रद्धा से वह भीग गया। पिता के प्रति उसका मन घृणा से फूल-फूल कर उफनता रहता। विमाता के प्रति उसके हृदय में भक्ति थी। पढ़ते-पढ़ते जब वह जमीन पर चटाई पर पड़ा दिन भर की थकी मादी मां को पति की प्रतीक्षा में मौन पड़ी देखता जो लडके के पढ़ते समय उससे बोलती भी नहीं तो उसे लगता उसकी शुभैषणा में डूबी उसकी जन्मदात्री माँ ही लौट कर आ गई हो।

एक रात कृपाशंकर की नींद एकाएक खुल गई। बगल के पलंग पर लक्ष्मी न थी। दबे पैर चौकन्ने नीचे आये। तीनों बेटे अपनी-अपनी शयृया पर गहरी नींद सोये थे। गाढ़े अंधेरे में उन्हें पूजा के कमरे में रोशनी दिखी। भगवान की मूर्ति के बगल में चार छै देवी-देवताओं की रंगीन तस्वीरों के पास ही उनकी गता पत्नी का फोटो लक्ष्मी ने लगा रखा था। दीवट में दीपक जल रहा था। लक्ष्मी उनकी गता पत्नी के छायाचित्र को संबोधित करती कर रही थी - मेरा क्या कसूर है जीजी। 'कैसे उनके मन का संदेह मिटाऊँ। भगवान जानता है - वहीं गयी तुम मेरे मन की पवित्रता क्या नहीं जानतीं ? बडकू को अपनी कोख के बेटे जैसा चाहती हूँ। फिर भी पति का मन मुझमें और तुम्हारे दिये मेरे बेटे के बीच पाप देखता रहता है। दिन रात इसी दुर्भाव में डूबा यह कलंक का पातक कैसे सहन करूँ ? मेरे दिल पर छुरियां चल रही हैं जीजी। दरवाजे के कोने पर खड़े कृपाशंकर को लक्ष्मी के गालों पर ढरती गाढ़ी धार साफ दिखाई दी। वे जैसे चुपचाप गये थे वैसे ही पलँग पर लौट आये।

मन की सारी हलचल और अशांति के बाबजूद नवीन ने इंटर आर्ट्स की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सारे घर में खुशी की लहर दौड़ गयी। नवीन ने सबसे पहले लक्ष्मी के पैर छुए तो आनंद के आवेग से रुंधा उसका गला भरा-भरा ही रह गया। बेटे के सिर पर हाथ फेरती रही। अलीगंज के महावीर मंदिर में वह प्रसाद चढाने जाने को आतुर थी। कृपाशंकर ने कहा - तुम सब मां बेटे जाओ। मैं घर पर रहूंगा। तीनों बेटों के साथ जाकर लक्ष्मी ने प्रसाद चढ़ाया। हनुमान की विशाल मूर्ति के चरणों पर माथा टेका - तीनों बेटों से टेकवाया, टीका लगाया। लौटकर घर बाहर प्रसाद के लड्डू बाँटे। पति की मुद्रा ने उसके मन का भार कुछ हल्का कर दिया था। उसकी भावना अपने आप में बह रही थी।

विश्वविद्यालय के पास से गुजरते हुए नवीन ने कहा था – मां मैं यहीं पढ़ने आया करूँगा। चकित लक्ष्मी उस भवन-श्रृंखला को एक सिरे से दूसरे तक देखती चली आई थी जो गोमती के पुल के पास खत्म होती थी। घर आकर पति से बोली – बड़कू के लिये साइकिल लेनी होगी। यहाँ पैदल चला जाता था। वहां कितनी दूर – एकदम शहर के बाहर . . . . .

कृपाशंकर ने शांत भाव से कहा – खरीद दूँगा।

इतना सब देखने पर भी संदेह का भूत कृपाशंकर का पीछा न छोड़ता था। लक्ष्मी के नवीन के प्रति छलकते स्नेहाधिक्य में उन्हें आसक्ति की गंध आती थी। लक्ष्मी का बोल-चाल अब और खुल गया था। इतने ऊँचे नम्बरों से पास होने वाला लड़का उसी ठाठ से रहे – पढ़ने जाय। उसके कपड़ों की सजधज में कोई कमी न रहे। कृपाशंकर ने कठिन परिस्थितियों में पढ़ाई की थी। गांव से 'राशन' आता था - छात्रावास में रहकर अपने हाथ से खाना पकाते थे - मोटा-झोटा पहनते थे। इंटर के बाद आगे पढ़ न पाये थे। सामान्य विद्यार्थी जीवन जीये कृपाशंकर को नवीन का रहन सहन अपव्यय लगता था। अपने लड़कों को वह सामान्य बनाये रखना चाहते थे। उनके

अभावों का अनुभव इन्हें भी तो हो। लक्ष्मी को पति का बाहरी खर्च खलता था। पति को पत्नी के साज सिंगार की ओर भी ध्यान देना चाहिये। उसके मन में भी युवतियोचित आकांक्षायें हैं। उसका मन पहले जैसी भीरुता के साथ अब बात बात पर न दबता था। नवीन के साथ दोनों छोटे भाईयों के कपड़े-लत्ते और इतर तरुणोचित मांगों की पूर्ति भी उतनी ही जरुरी थी।

कृपाशंकर ने नवीन से कहा - तुम्हारी फीस माफ हो जायगी। अच्छी प्रथम श्रेणी के छात्रों की हो जाती है।

नवीन ने पता लगा लिया था। बोला - आपकी तनखाह के लोगों के लड़कों की नहीं होती। 'पावर्टी कम मैरिट' का नियम है। मैंने फार्म नहीं भरा।

कृपाशंकर आगबबूला होकर बोले - पहले से ही राय बना बैठे। तुम्हें मुझसे पूछ लेना था। कपड़ों, किताबों, दीगर खर्चों में इतन हो जाता है फीस का खर्च ही बचता।

नवीन ने कहा - मैंने माँ को सब बता दिया है। कृपाशंकर ने वैसी ही आग्नेय दृष्टि लक्ष्मी पर डाली। उसने कहा - बेकार, नाही सुनने से अच्छा जो बड़कू ने किया। उसकी पढ़ाई का ऐसा कितना खर्च बढ़ गया है ? आपको उसका होंसला बढ़ाना चाहिये। आप खर्च की झिकझिक लगाये रहते हैं।

कृपाशंकर क्रोध भरी दृष्टि से लक्ष्मी की ओर ताकते रहे। जो किसी बात का जबाब न देती थी वह आज रुपये की बात करने पर सौते बेटे की ओर से बहस करती है। नवीन का मां की ओर झुकाव भी अब खुली श्रद्धा की भावस्निग्धता लिये था। छोटे से कालेज से निकलकर वह बड़े-बड़ों के बीच कितनी बड़ी जगह पढता है, यह सब लक्ष्मी को बताता। ताल्लुकेदारों, राज-रईसों, सरकारी अफसरों, डाक्टरों, वकीलों के लड़के शहर और बाहर से आकर पढ़ते हैं जिनके फैशन की सीमा नहीं। मां ने उसके लिये जो सहन किया है - आज भी कमोवेश सह रही है उसका पता तीक्ष्ण बुद्धि और भावुक मन नवीन को था। उसे और दोनों छोटे भाइयों को हर प्रकार सुख पहुँचाने में माँ की प्रसन्नता उनके प्यार के साथ घुल मिलकर और भी किरनीली हो जाती। बात बात में मां का सहज सरल स्नेह-सत्कार, उनके मन में भक्ति की मिठास भर देता।

लक्ष्मी गर्भवती हुई तो उसके मन में सुखानुभुति का नारी-सुलभ संचार हो चला। पति से जब उसने बताया तो उसके भीतर आगत के प्रति किसी प्रकार की पितृ भावना का लक्षण न पाकर संतान-संभवा को खिसियाहट हुई। उसने महीनों बाद यह बात कृपाशंकर से बताई थी जैसे पति से मिली पत्नीत्व की इस नयी सार्थकता के प्रति हर प्रकार आश्वस्त होकर ही पति से सब कहा हो। जिस बात पर पति को उसे पुलकित प्यार से भरा शक्ति का संवेदित आधार देना था उसे सुनकर वह सोच मग्न हो गया था। लक्ष्मी को यह सब बड़ा विचित्र लगा था। नवीन ने मां की इस कसक को अनुभव किया। उसने मुझे सब बता दिया - किस प्रकार प्रफुल्लता के स्थान पर मां के मुख पर अंतर की ग्लानि उनके यत्न करने पर भी नहीं छिपती। वे दिन रात काम में लगी रहकर जैसे सब भूल जाना चाहती हैं।

नवीन मुझसे कहता - माँ हमें एक बहिन दे दे। तीन भाई हम हैं, बहिन की कमी है।

मैं समझदारी दिखाते हुए कहता - ऐसा न कहो। माँ बनने वाली नारी पहली बार लड़का ही चाहती है। कभी माँ के सामने न कह देना।

नवीन व्यावहारिक समझदारी में लौटकर कहता – ठीक कहते हो। इस बात पर ध्यान न था।

कृपाशंकर ने एक दिन लक्ष्मी से कहा - दिन चढ़ आये हैं। इतना बड़ा पेट लिये तुम्हें सयाने लड़कों के सामने लाज-संकोच नहीं लगता। अच्छा हो तुम मायके चली जाओ।

लक्ष्मी ने शांत भाव से कहा - उनकी अपनी मां होती तो भी यही स्थिति आती। उन्हें क्या संकोच लगता. ...

कृपाशंकर बोले - उसकी बात दूसरी थी। अधबूढ़ी सगी माँ और जवान दूसरी माँ में फर्क होता है।

उत्तेजना की लाली को समेटते हुए लक्ष्मी ने इस बार तीव्र स्वर में कहा - कोई फर्क नहीं होता। मैंने न कभी ऐसा भाव मन में रक्खा न उन्हीं में पाया। मां की ममता को पहचानने में सयाने हों या छोटे किसी को देर नहीं लगती।

ऊब से खीझे कृपाशंकर ने विषाक्त हितैषिता से पूछा - यहां सोवर कौन करेगा? लड़का माँ की सोवर भी करायेगा?

"अम्मा (सास) क्या न आयेगी? छोटे देवर के यहाँ से उन्हें बुलाइये। मायके जाकर मैं क्यों वहां बोझ बनूं? ऐसे मौके पर पड़ोसिनों भी घर वालों से बढ़कर हो जाती हैं।

कृपाशंकर को पत्नी की बातों पर झल्लाहट होती थी। अपनी किसी बात का उत्तर पाते ही उसे अकारण झिड़कते तो बेटों को बुरा लगता। सेवा और वत्सल स्नेह की मूर्ति माँ से उन्हें बेहद लगाव था। नवीन को सुनाकर एक दिन कोई अभद्र बात जब उन्होंने लक्ष्मी से कही तो नवीन उत्तेजित हो उठा। आखिर पिता के बाहरी दुराचरण की कोई बात उससे छिपी न थी। बोला - ऐसा आपको कदापि नहीं बोलना चाहिये। सपने में भी न सोचना चाहिये। आपकी ये बातें माँ के मन की शांति हर लेती है। दिन भर का काम, हम तीनों की बेटों जैसी देख संभाल, आपकी सारी सेवा, रोटी-पानी, साफ-सफाई, झाड़-पोंछ - जबकि उन्हें पूरा आराम मिलना चाहिये।

'क्यों' - आंखें तैर कर कृपाशंकर ने कहा - 'महरी लगी है'।

'महरी चौका बर्तन करते चली जाती है। इतने बडे हो आये हम तीनों को वे बच्चों जैसा रखती हैं - दिन भर खपती हैं, ऊपर से आपकी ये जली-कटी बातें........

कृपाशंकर से लड़के का जबान लड़ाना सहन न हुआ। चेहरे पर कड़ाई का भाव झलक उठा। उसे फटकारा तो नवीन बिना खाये यूनिवर्सिटी चला गया। लक्ष्मी से भी उस दिन कुछ न खाया गया।

माँ के कहते ही नवीन जाकर दादी को ले आया। दिन निकट आ रहे थे। सास आते ही सब तैयारी कर चली। लक्ष्मी के साथ रहने का उनका पहला मौका था। पोतों के प्रति सौतेली माँ का ममत्व देखकर उन्हें भारी संतोष मिला। लक्ष्मी से अपनी कोई सेवा न लेती। अधिक से अधिक घर का काम स्वयं करती। लड़के बात बात में माँ का मुँह जोहते। सबसे छोटा प्रवीण पढ़ने से मुँह छिपाता। लक्ष्मी उसे समझाती, पुचकारती, बड़े भाई नवीन जैसा पढ़ने में तेज होने को बारंबार प्रबोधती। उसे भी इस साल बोर्ड की परीक्षा देनी है। नवीन डाँटता, जमकर पढ़ाई न करने पर मारने की धमकी देता तो प्रवीण शिशु की तरह लक्ष्मी के आंचल में दुबक जाता। लक्ष्मी उसके सिर पर देर तक स्नेहसिक्त हाथ फेरती रहती।

लक्ष्मी के लड़की हुई तो भाईयों को छोटी बहिन पाकर खुशी हुई पर सास का मन गिर गया। उनके फूले मुँह का भारी पन लक्ष्मी से छिपा न रहा। पहली बार लड़का ही होना था। कृपाशंकर भी

भी ठीक मां की मानसिकता के थे। नवीन विशेष रूप से प्रफुल्लित था। बोला - माँ हमारे कोई बहिन न थी। भगवान ने कमी भर दी।

दादी मुँह बिचका कर बोली - मेरे मन की तो न हुई। पहलौठी बिटिया अमंगल होती है। मालिक की मर्जी।

नवीन दादी का भाव भाँपकर आगे न बोला। लक्ष्मी बेटों की ढेर सारी असुविधाओं को ध्यान में रख सोवर से जल्दी ही निकल कर घर के सारे काम देखने लगी थी। नवीन बी. ए. की परीक्षा देगा। घर में चल रहे काम काज से उसकी पढ़ाई में विघ्न हो इसे वह न भूलती थी। स्वस्थ बालिका को जन्म दे, गर्भ के दैहिक भार से मुक्त होकर वह पहले जैसी हलकी, फुर्तीली हो गयी थी। नवीन बेबी को देखकर कहता - मां, यह गोरी तो है तुम्हारी तरह पर गढ़न ठीक मुझ जैसी है।

लक्ष्मी प्रमुद कंठ से कहती - तुम्हारी छोटी बहिन है। तुम्हारी जैसी न होगी तो और कैसी होगी ? पर कहाँ तुम। कौड़ी मोहर का फर्क है।

कृपाशंकर का ध्यान इस ओर गया उनमें संदेह की कटुता सुलग उठी। मन में माँ बेटे के अनुराग को लेकर एक कुत्सा भर भर आती - अपने में ही खोए खोए रह जाती। बाहर इधर उधर के स्वैर व्यापार में घूमते रहते तो भूले रहते। घर आते ही नवीन और लक्ष्मी की तनिक भी आदर अनुराग भरी मुद्रा उन्हें दाहने लगती। नवीन बच्चों की तरह बेबी को खिलाता-खेलता। पढ़ने के मन तनिक भी थकते ही वह साल भर की छोटी बहिन को गोद में लेकर ऊपर नीचे आता जाता। लड़के का यह विभोर बचपना लक्ष्मी को इतना भाता कि वह दोहरे मातृत्व की भावना की सूक्ष्मता में विलीन हो हो जाती। उसकी आंखों में सदा आनंद के अधबने आंसुओं की नमी फैली रहती। सन्तानवती हो जाने के बाद पति के प्रति खुलेपन को सहज नारी भाव न मानकर कृपाशंकर उसे उसका दिखावा समझते। अपने और निकट आने की लक्ष्मी की भावरंजित सरलता में उन्हें पत्नी का अपराध-बोध दिखाई देता। उसके तन मन की तरंगें उन्हें बिलकुल बाहर की आई लगतीं। नारी को मिट्टी की आदम कद गुड़िया की तरह केवल भोग की वस्तु मानने वाले कृपाशंकर वीणा के झंकृत तारों के सुर से बनी लक्ष्मी के सांसों की मनुहार को उसकी पाप वृत्ति मानते। बेबी का मुँह देखकर उसके सामने नवीन की पूरी मुखाकृति घूम जाती।

कहानी की रचना पाठक की आस्था बनाये रखने के लिये सावधान रहती है पर यथार्थ संस्मरण का सत्य ऐसी कोई बाधा नहीं मानता - अद्भुत होने से हिचकता नहीं। कृपाशंकर जिस कुख्यात संभ्रांत अड्डे पर नये नये 'माल' की तलाश में अक्सर जाते थे वहाँ एक रात पुलिस का छापा पड़ा। भले गृहस्थ घर का पूरा ऊपरी सरंजाम रहने पर भी पुलिस को पूरा संदेह था कि वहाँ देह-व्यापार होता है। संयोग से कृपाशंकर उस दिन वहां रंगे हाथों पकड़े गये। सरकारी नौकर होने के उनके सारे दावे के बावजूद पुलिस मकान-मालकिन, नौकर और दो अन्य युवतियों के साथ उन्हें पकड़ कर ले गयी। थानेदार नया था, कर्तव्य पालन में कड़ा और बेलौस पैसा लेकर रफा-दफा करने की कोशिशें बेकार गयीं। कृपाशंकर हिरासत में ले लिये गये। उधर पति के न लौटने से उद्विग्न लक्ष्मी ने लगभग जाग कर रात काटी। ऐसा पहले कभी न हुआ था। बारह एक तक वे घर लौट आते थे, दूसरे 'शो' में सिनेमा जाने के शौकीन माने जाते थे। देर तक पढ़ने के बाद सोये बड़े बेटे को जगाना लक्ष्मी ने मुनासिब न समझा। पर सुबह नौ बजने के बाद उससे रहा न गया। माँ के चहरे पर किसी अज्ञात संकट की दुश्चिंता काली घटा की तरह छायी थी। नवीन तत्काल पिता का पता लगाने निकला। इस कुख्यात अड्डे के बारे में पिता के बराबर जाते रहने का उसे पता था।

वहाँ जाकर पास पड़ोस में उसने सारा माजरा सुना। वहीं पड़ोस में रहने वाले अपने पुराने सहपाठी से उसे पिता के दुष्कृत्यों के बारे में और भी जानने को मिला। पिता हवालात में बंद हैं, यह जानकर ग्लानि की सीमा न रही।

सुनकर लक्ष्मी के पैरों तले से जमीन खिसक गई। पति का जो दुर्व्यसन वह जानबूझकर नहीं जानती थी वही आज घर की आबरू लूटे ले रहा है दूर के मुहल्ले में रहते देवर को तुरंत खबर दी गई। जमानत का प्रबंध हुआ। लक्ष्मी की कातरता दृढ़ता के आवरण में भी छिपाये न छिपती थी। दौड़ धूपकर अपराह्न तक जमानत हुई। मुंह लटकाये कृपाशंकर घर आये। बदनामी तो हुई ही - आगे क्या होगा यह सोचकर उन्हें पसीना छूटने लगता था। तनिक भी सजा हुई तो नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। चुपचाप औंधे पड़े थे। सोते थे या जागते, मन ही मन रोते थे या सोचते इसका ज्ञान तक न था। लक्ष्मी पास जाकर मृदुता से बोली - उठिये, खाना खाकर सोइये। जी हल्का हो। सुबह आठ बजे लल्ला (देवर) आयेंगे। वकील से मिलकर मुकदमे की तैयारी कीजिये।

न जाने क्यों पत्नी के प्रति कृपाशंकर की घृणा उबल उठी। कड़क कर बोले - 'चली जाओ मेरे सामने से।'

देवर से आसन्न संकट की सारी बातें सुन समझकर लक्ष्मी भीतर का बल समेटकर अपने कुंठित मन को नयी दृढ़ता से प्रौढ़ कर चुकी था। बोली - क्यों चली जाऊँ ? मैंने क्या किया है जो चली जाऊँ ? जो हो गया उससे सबक सीखो - आगे की सोचो। सिर गड़ाये पड़े रहोगे तो कौन दौड़-धूप करेगा। पुलिस चालान पेश कर चुकी है। . . . . सब तुम्हीं को तो करना है। अच्छा वकील लगाओ जो साफ छुड़ा ले।

'तुमने जो किया है वह कोई औरत नहीं करती फिर भी हेकड़ी दिखाती हो . . . .' कह कर कृपाशंकर बकते झकते रहे। नीचे से नवीन आ गया। लक्ष्मी ने चले जाने का संकेत किया। पिता की मानसिक दशा से वह भी कम क्षुब्ध न था। बदचलनी के अभियुक्त के रूप में उन्हें अदालत के कठघरे में जाना ही होगा - भले छूट जाएँ।

दिन भर के भूखे कृपाशंकर ने जैसे तैसे खाना खाया। लक्ष्मी को कुछ राहत मिली। बेटों को भली भांति खिलाकर घर के कामों में लग गई। बेबी की ओर ध्यान देने की जैसे फिक्र न थी। पर कृपाशंकर के मन की तिक्त कटुता लक्ष्मी पर बिना कलुष मढ़े शान्त होने न आती थी। लक्ष्मी पहले जैसी मूक सहिष्णु न रह गयी थी। सुनते सुनते पक कर वह भी तीखे जवाब देती - अपनी सच्चाई की दुहाई दती। कृपाशंकर गाली गलौच पर उतर आते। बेवश लक्ष्मी वैसी भाषा न बोल पाती। कुल-शील उसकी जुबान बंद कर देता। वह सामने से हट जाती। कृपाशंकर चिड़चिड़े होते जा रहे थे। उनकी बेकाबू जबान जो पाती कहती।

पुलिस द्वारा कृपाशंकर के विभाग को घटना की रिपोर्ट भेज दी गई थी। वे निलंबित कर दिये गए थे। यदि ससम्मान बरी न हुए तो नौकरी की बना रहना संभव न होगा। फौजदारी के चतुर वकील को कृपाशंकर के बेदाग निकलने का एक ही रास्ता दिखाई दिया। वही कृपाशंकर के धंधे के उस घर में पाये जाने का जोरदार सबब बताया जा सकता था। अपने लड़के के वहाँ निरंतर जाते रहने की समाचार पाकर पिता ने उसे वहीं पकड़ना चाहा था। लड़का कुछ समय पहले ही वहाँ से उठ चुका था। विश्वस्त सूत्रों से पुत्र के संबंध में ऐसी नियमित शिकायत सुनकर पिता को स्वयं वहां जाकर सत्य की जाँच करना स्वाभाविक माना जायगा। पिता की मनोवैज्ञानिक दशा को बिना

समझे संवेदनहीन पुलिस एक प्रतिष्ठित सरकारी नौकर को फँसाने पर तुली है। लड़का स्वयं वहाँ उसी दिन घड़ी भर पहले तक वहाँ रहना स्वीकार कर रहा है। अपने पुराने संपर्क कबूल कर रहा है।

कृपाशंकर को स्वार्थ के लिये निर्दोष नवीन को सामने लाने और अपना लक्ष्य पुष्ट करने में हिचक न थी। उस दशा में 'केस' के बिलकुल कमजोर पड़ जाने और लड़के को अदालत द्वारा भविष्य में ऐसा असामाजिक दुराचरण न करने की चेतावनी के साथ छुड़ा ले जाने का वकील को विश्वास था। भले घरों के सामान्य लड़कों को इसी प्रकार वे कई बार छुड़ा चुके हैं। फिर यह तो इतना ज़हीन लड़का है। अदालत उसके भविष्य को ध्यान में रखकर मामले के इतने हिस्से को तूल न देगी।

देवर के मुँह से यह सब सुनकर लक्ष्मी सन्न रह गयी। चाचा ने भतीजे को वकील द्वारा पिता के बचाव का यह रास्ता बताया तो नवीन तमतमा उठा। पिता द्वारा लगाये गये प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लांछन का दाह उसने भी माँ के साथ-साथ सहा था। बोला - अपने बेटे के चरित्र का इतनी बेरहमी से बलिदान करते पिता को शर्म न आयेगी ? मैं उनका कलंक ओढ़कर अदालत में दुराचरण का अपराध स्वीकार करूँ। आप सरकारी नौकर नहीं हैं। क्यों नहीं सामने आते। सगे भाई को सुधारने के लिये भी वे उतनी ही आत्मीयता से उस संभ्रांत वेश्यालय जा सकते हैं . . . . . .

चाचा हतप्रभ रह गये। कृपाशंकर को शब्दशः पूरी बात सुनाकर वे ज्यों के त्यों वापस चले गये।

ऐसे में कृपाशंकर को लक्ष्मी का ही सहारा सूझा। उनका पाप यहाँ भी नवीन पर लक्ष्मी के प्रभाव की बात सोचने लगा। नवीन उसकी बात न टालेगा। पर वे लक्ष्मी से कैसे कहें। अब तक उसके प्रति घृणा की गंध ही तो फैलाते रहे हैं। बात-बात में पति के साथ छल कपट का आरोप-दुत्कार फटकार। उधर नौकरी बचानी है। पूरे घर की जीविका की बात सोचकर लक्ष्मी नवीन को राजी कर लेगी। कुढ़न में जलते हुए नवीन ने अपने और चाचा के बीच हुई बात माँ से न बताई थी। यह आत्म-सहन उसने सौतेली मां से ही सीखा था जो पुत्र के मन को निर्भ्रांत रखने के लिये पति द्वारा आरोपित सारी दुरात्म अपवित्रता अकेली पी जाती है। कृपाशंकर ने अधिकार और अनुनय में बँटे स्वर से लक्ष्मी को सब बताया। नवीन का ऐसा बयान उनकी नौकरी बचा सकता है . . . . . .

लक्ष्मी पर सकता छा गया। पूरी बात समझते ही उसका तार-तार झनझना उठा। आज उसने अपने नारीत्व की फनफनाती फुफकार सुनी। उसके भीतर भी अमोघ शक्ति की प्रेरणा है जो लांघी नहीं जा सकती। बोली - मैं बड़कू से ऐसी बात कहूँगी ? उसके पहले मुझ पर गाज न गिर जायेगी। अपने हाथ से अपनी मर्यादा का सिर काटकर वह दे दे ऐसा तुम कह सकते हो। मैं माँ हूं-माँ। इसीलिये तुमने जो जो कहा - जो जो नहीं कहा सब सहा सोखा है। तुम्हारे झूठ को बराबर कुचल कुचल कर जीती रही। विरासत में मिले तीनों बेटों की कल्याण कामना में टूटती रही। आज तुम मुझसे इतना बड़ा पातक निगलवाते हो . . . तुम।

सभी औरतों को औरतपन में एक समझने वाले कृपाशंकर परिस्थिति के कंटीले तार में जकड़े थे। बोले-बच्चों की पढ़ाई खत्म हो जायगी, रोटियों के लाले पड़ जायेंगे। भीतर बाहर छकाछक खर्च करती हो, सब छूट जायगा।

'अभी छूट जाय । इसके लिये क्या लड़के को कुएँ में ढकेल दूँ ? उसका छटपटाना - डूबना उतराना देखूँ । अपने बचाव का और तरीका सोचो । मेरे सब गहने बेच दो । वहां का अपना आधा घर बेच दो । बड़ा वकील लगाओ । '

कृपाशंकर का प्रतिहिंसक भाव उनके मुँह को विदीर्ण किये डालता था । नवीन ने उन्हें माँ के पास से नीचे उतरते हुए देखा । सब समझ गया । निढाल लक्ष्मी बुदबुदाती नीचे उतर रही थी - मैं मेहनत मजूरी करूँगी, चक्की पीस लूँगी । सामने नवीन को पाकर क्षोभ सारा अविरल धार बन गया । घर पर छायी काली उदासी को चीर कर जो माँ उन्हें चिन्ता की रेखा भी नहीं देखने देती वही बेसँभाल आंसुओं से भीग गयी हैं ।

शाम के गहन सोच में डूबे नवीन ने मुझे सब बताया । 'मैं क्या करूँ रतन । मेरी सारी समझ साथ छोड़ गयी है । '

नवीन के यहाँ जब जाता तब माँ से बातें होतीं । वे मुझसे माँ जैसा स्नेह करतीं -परिवार की बातें पूछतीं । मैं सोचता था जिसे पति के प्यार में बसना-जीना था वह उधर के सारे अभाव और तिरस्कार भूलकर दीपशिखा जैसी अर्पण की ज्योति बाँटना ही जानती है । नाजुक मामला था । मैं यह कह सका - माँ जैसा कहे वैसा करो । वे मंगल वचन ही बोलेंगी ।

नवीन भावाभिभूत हो उठा । उस दिन की उसकी भरी भरी मुखाकृति भुलाये नहीं भूलती जिसमें उसके अंतर की हलचल का ओरछोर न था ।

अगली पेशी कई दिन बाद थी । नवीन ने मानसिक उथल-पुथल से मुक्ति पाने के लिये रास्ता निकाला । लक्ष्मी से बोला - मैंने निश्चय कर लिया माँ । केवल तुम्हारी आज्ञा चाहिये ।

धड़कते दिल से लक्ष्मी ने पूछा - किस बात की आज्ञा ? सुनूँ तो तुम्हारा निश्चय . . . . .

'बाबू को बचाने के लिये । जैसा सब कहते हैं मैं करूँगा । लक्ष्मी ने तेजोदीप्त कंठ से कहा - हरगिज नहीं । तुम पर चारों ओर से दबाव पड़ रहा है । मैं कभी हामी नहीं भर सकती । इतने दिनों में तुमने मुझे यही जाना है ? सब सहती हूँ - कुछ बोलती नहीं इसीलिये न । भरी अदालत में जाकर कहूंगी - निरपराध लड़का पिता के लिये बलि हो रहा है , मैं आज्ञा दूँ . . . . . . . . मैं . . . . . . .

इसके बाद जो हुआ वह त्रासद घटनाओं का क्रम है । अदालत ने कड़े शब्दों में कृपाशंकर की भर्त्सना करते हुए उन पर जुर्माना किया । न देने पर दो महीने की सजा । नौकरी तो उनकी जाती रही । तनावों से भरी इस अशांति में नवीन को बी. ए. में द्वितीय श्रेणी ही मिल पाई । सचिवालय में क्लर्क हो गया पर 'लॉ ' करता रहा । उन दिनों विधि की कक्षाएँ शाम को लगती थीं । कृपाशंकर हमारा मुहल्ला छोड़कर पैतृक घर के आधे हिस्से में रहने लगे । वे अर्धविक्षिप्त की तरह इधर उधर घूमते या घर में आत्मविसंज्ञ पड़े रहते । नवीन से कभी-कभी भेंट होती तो वह माँ के असाधारण धैर्य की चर्चा करता । निराश और बदनाम-चित पति के मनोबल को हर प्रकार सशक्त बनाती माँ की बात आते ही वह उनकी निष्ठा की वंदना करता - माँ के प्रति उसका सहज पूजा-भाव उसके शब्द-शब्द का भावार्द्र कर देता ।

□

व्यक्तिलेख

# वे चेहरे : अखंड शास्त्री

**भगवती शरण सिंह**

उनका नाम अखंड शास्त्री था । उनका असली नाम क्या था। किसी को नहीं मालूम । काशी में सभी धर्मो, संप्रदायों, जतियों और निवासियों का जमघट रहता रहा है । वहाँ के स्थाई निवास के आधार पर उनके मुहल्ले भी हैं । यद्यपि उन मुहल्लों के नामकरण देखने पर ऐसा लगता है उनकी जातियों या संप्रदायों के आधार पर हुए हैं पर ऐसा है नही । कई-कई ऐसे मुहल्ले जरुर हैं कि जिनमें एक जाति, धर्म या प्रांत विशेष के ही लोगों का प्राधान्य हो गया है । बंगाली टोला ही एक ऐसा मुहल्ला है जो बंगाली बहुल होने के साथ साथ बंगाली नाम धारण किए हुए है । सूत टोला भी है पर उसमें सूत, मागध, तो आज नहीं रहते । बाजारों के नाम भी उनमें बिकने वाली वस्तुओं के नाम से ख्यात हैं पर यह काशी की ही विशेषता नही है। अन्य नगरों में भी विक्रय होने वाली वस्तुओं के नाम पर बाजारों के नाम पड़े हुए हैं। जो बात अन्यत्र नही है वह यह कि काशी में ये लोग विभिन्न आकार प्रकार, धर्म और संस्कृति के होते हुए भी अपने को काशी का निवासी होने में ही गर्व का अनुभव करते रहते हैं और अपने को बनारसी कहकर अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं। ये सभी बनारसी बोली, जो भोजपुरी का ही सरस रुप है, अच्छी बोलते हैं।

अखंड शास्त्री भी बनारस में आकर बनारसी हो गये थे। बनारसी होने का एक विशेष अर्थ होता है। जब कोई बनारसी होता है या अपने को घोषित करता है तो यह मान लेना चाहिए कि उसमें कोई विलक्षणता अवश्य होगी । भले ही वह विलक्षणता सर्व स्वीकृति न पा सके और अक्सर लोगों को कष्टदायी भी हो जाये फिर भी वह बनारसियों के लिए उनका सहज स्वभाव बनी रहती है । उनकी ये विशेषताएँ ज्यादातर लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत रहती हैं और लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती रहती हैं । इन दृष्टियों से भी अखंड शास्त्री बनारसी ही थे । अखंड शास्त्री को बनारस की विभूतियों में गिना जाना चाहिए था, पर वह इसलिए नहीं हो सका कि वे अपने को लोक से अलग नहीं कर सके । वे सदा ही लोक धरातल पर बने रहे और वहीं से लोक सेवा करते रहे।

वे बनारस में किस स्थान पर रहते थे इसका भी पता नहीं । इसलिए कि वे कहीं भी रह सकते थे । पर लोगों का विश्वास था कि अधिकतर वे हनुमान घाट पर रहते थे । यह विश्वास भी केवल उनके तमिल होने के कारण बना था । तमिल लोगों की संख्या हनुमान घाट में अधिक थी ।

आज भी होगी ही। सच तो यह है कि वे अनिकेतन थे। काशी की ही एक विभूति स्व. संपूर्णानंद जी द्वारा रचा एक श्लोक है जिसमें उन्होंने कहा है

'जगदभर्ताऽपि यो भिक्षुः भूतवासोनिकेतनः।

विश्व गोप्ताऽहि दिग्वासा तस्मै कस्मै नमोनमः।।

इस श्लोक में भूतवास शंकर को अनिकेतन कहा गया है। अखंड शास्त्री भूतवास भले ही न रहे हों पर अनिकेतन जरुर थे। और शंकर -स्वरुप भी थे। उन्हें अनिकेतन तो बहुतों ने देखा होगा। कभी किसी मंदिर के प्रांगण में, कभी किसी दूकान के बाहर निकले पटरे पर, तो कभी किसी गृहस्थ के घर के बाहरी बरामदे में उन्हें रात बिताते ही उनका जीवन बीता, उनका शंकर स्वरूप भी छिपा हुआ नहीं था। वह भीतर बाहर एक सा स्पष्ट था। वे सदा ही दूसरे की मंगल कामना के लिए घूमते रहे। पर जिस कारण वे अधिक शंकर स्वरूप थे वह उनकी शिवेतर क्षति की दुर्दमनीय लालसा थी। और कारण से भी उन्हें शंकर स्वरूप कहना अधिक उचित जान पड़ता है। जिन्होंने रामचरित मानस पढ़ा होगा उन्हें शिव पार्वती विवाह के प्रकरण में शिव के रूप विन्यास की याद भी होगी। यदि नहीं तो नीचे लिखी चौपाइयों से उनको सुरत हो जायेगी:

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौरू सँवारा।।

ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा।।

गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव वेष सिवधाम कृपाला।।

कर त्रिसूल अरू डमरू बिराजा। चले बसहं चढ़ि बाजहिं बाजा।।

देखि सिवहि सुर तिय मुसकाहीं। बरलायक दुलहिन जग नाहीं।

हमारे अखंड शास्त्री का विग्रह भी इससे कुछ कम नहीं था। काशी में तीन बजे रात्रि को अगर सबेरा कहा जाये तो प्रायः तभी से गंगा स्नान करने वाले पुरुष और स्त्रियाँ रामनामी ओढ़े, हाथ में पीतल से लेकर चांदी तक की झारी लिये निकल पड़ती थीं। सुबह सात बजे तक लौट आने वालों में तो अखंड शास्त्री जी के दर्शन यदा-कदा ही हो पाते थे। पर सात बजे के बाद उन्हें कहीं भी देखा जा सकता था। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सर्वव्यापी थे। पर आज यहाँ तो कल वहाँ, और दिन भर में तो प्रायः आधे से ऊपर शहर का भाग उनके चरण तल में आ चुका होता था।

जैसा कि पहले की बातों से स्पष्ट हो चुका होगा वे कृष्ण वर्ण के थे। देशज शब्द का सहारा लें तो उनका रंग काला था। सर के बाल आठ या दस दिन के बढ़े होते थे। अतः वही हाल गाल और ठुट्डी के बालों का भी होता था जिसे एक शब्द में दाढ़ी कहा जाता है। आश्चर्य इस बात का था कि जब उन्हें देखा इसी कद के बालों सहित देखा। इसका दूसरा अर्थ तो यह हुआ कि वे हर आठवें दसवें दिना अपना मुंडन कराते होंगे उस दिन या उसके दूसरे तीसरे दिन भी लोगों ने उन्हें जरूर ही देखा होगा। पर उनका वह रूप उनके व्यक्तित्व की छाप नहीं बना था। बाल खिचड़ी थे, कुछ काले कुछ सफेद। माथे पर भस्म का त्रिपुंड, बीच में एक लाल रोली का टीका। भस्म तो प्रायः सारे शरीर में ही पुता होता था, पर त्रिपुंड अधिक प्रकीर्ण होने के कारण दिखाई पड़ता रहता था। गले में वे गेंदे के फूलों के बड़े छोटे गजरे पहने हुए होते थे। इनमें और प्रकार के फूलों की मालाएँ भी होती थीं। न तो मालाएँ खरीदकर पहनते, न इन्हें कोई चढा जाता था। सबेरे नहा धोकर भस्माभिभूत होने के बाद इनके रात्रि निवास के निकट जो भी देवालय होता वहाँ से उसमें पहले दिन की उतार फेंकी मालाएँ बटोरकर उनसे ये अपना श्रृंगार कर लेते। एक खाकी रंग का

जांघिया इनका परिधान होता। बाकी सारा शरीर जाड़ा गर्मी बरसात अनावृत ही रहता। रात का पता नहीं कि ये क्या ओढ़ते बिछाते थे। पर अनुमान यही है कि पृथ्वी ही इनकी शय्या थी और आकाश ही इनका ओढ़ना। इसीलिए इन्हें दिग्वासा भी कहना उचित होगा। नंगे पाँव। हाथ में ताड़ का एक बहुत बड़ा पंखा रहता था। जिन लोगों ने शादी ब्याह में या बड़ी-बड़ी सभाओं में बिजली के पंखों के आभाव में हाथ से झूले जाने वाले ताड़ के बड़े पंखों को देखा होगा उन्हें इसका सहज अनुमान हो जायेगा।

वे अंग्रेजी बोल लेते थे, पर काशी में रहते हुए उनकी हिंदी और बनारसी बोली किसी भी बनारसी से कम अच्छी नहीं थी। भाषा के बारे में वे बहुभाषी थे। भाषा के बारे में उनका उदार मन किसी एक के प्रति पूर्वग्रह से भरा नहीं था। लोक कल्याण के लिए जिस समय जिस भाषा की आवश्यकता जान पड़ती उसका वे सहज प्रयोग कर बैठते। जो भाषाएँ वे नहीं जानते रहे होंगे उनका काम भी काशी में रहते उन्हें कभी नहीं पड़ा होगा। पैदल चलते हुए और बाद को जब काशी में साइकिल रिक्शों का चलन हो गया तो उस पर बैठकर नगर भ्रमण करने में उनका एक ही लक्ष्य, एक ही उद्देश्य जान पड़ता था। कौन दुखी है, किसे सहायता की आवश्यकता है, यही उनका लक्ष्य भेद था और वे प्रतिदिन अपने लिये कुछ न कुछ पा लेते थे। बीमार को अस्पताल पहुँचाते उन्हें अक्सर ही देखा जाता। उनके दैनिक क्रियाकलाप और व्यस्तताओं को देखकर यह विश्वास दृढ़तर होता रहता कि वे जीव-जीव में भेद नहीं करते थे। जीव मात्र के प्रति दया, सद्भाव उनका स्वभाव था। यदि मानव योनि के जीवों की चिकित्सकीय सहायता पहुँचाने में वह व्यस्त देखे जाते थे तो वहीं उन्हें किसी भी दिन बीमार गाय या कुत्ते को भी पशु चिकित्सालय में पहुँचाते देखा जा सकता था। उनकी आँखें कैसे बीमार को देख लेती थीं और किस प्रकार वे यह जानते थे कि उसे उनकी सहायता की अपेक्षा है इसका रहस्य उन्हीं के पास अक्षुण्ण रहा। मेलों और पर्वों के अवसर पर स्टेशन या घाट पर अथवा मेला स्थान पर उन्हें सहायता कार्य में सदा तत्पर देखा जाता था। किसी भी संस्था या व्यवस्थापक से उनका कोई विरोध नहीं था। सबके साथ सक्रिय सहयोग ही उनका आंदोलन था।

जहाँ वे सहयोग की भावना से भरपूर लोक कल्याण में लगे रहते, वहीं उनमें अप्रिय लगने वाली घटनाओं या कर्तव्यहीनता के प्रति आक्रोश का भाव भी गहरा था। पर उसकी अभिव्यक्ति वे क्रोध या विरोध से नहीं करते थे। इसके लिए भी उनके अपने तरीके होते थे। एक उदाहरण से उनके क्रोधहीन विरोध या विरोधहीन क्रोध का सही आभास मिल सकता है। अपने दैनिक भ्रमण में अगर उन्हें कहीं भी रास्ते में कोई कुत्ता या घोड़ा या गाय या कोई भी अन्य जानवर जिसमें मनुष्य भी हो सकता था मरा पड़ा दिखाई दे जाता तो वे तत्काल नगर पालिका अथवा नजदीक के पुलिस थाने पर उसकी सूचना देते। इस बात की प्रतीक्षा करते कि वहाँ से तत्काल कोई कार्यवाही प्रारंभ हो। हर प्रकार से प्रयत्न करते कि संबद्ध अधिकारी की ओर से ही तत्काल कोई कार्यवाही प्रारंभ हो। उस शव के वहाँ पड़े रहने पर आम आदमी अथवा उस क्षेत्र के निवासियों को कितने प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ सकता है इसे वे समझाते, इंतजार करते कि उसे हटाने की कार्यवाही हो। पर अगर उन्हें अपने इन प्रयत्नों में सफलता न मिलती तो स्वयं उस शव को उठाकर उसे यथास्थान पहुँचाते। ऐसा लगता है कि अपनी विफलता पर उन्हें कभी-कभी क्रोध भी आता जाता था। और तभी कभी-कभी यह भी देखा गया कि शव के तत्काल नहीं उठाये जाने पर वे उसे स्वयं उठाकर नगरपालिका के उस वार्ड के प्रतिनिधि सदस्य के घर के दरवाजे पर

रख आते। आज जब प्रजातंत्र के स्वांग में नगरपालिकाओं के चुनाव दशकों से नहीं हुए हैं और न उनको कराने की कोई उत्सुकता ही देखी जा रही है तब-- यदि वे आज होते -- निश्चय ही वे इन शवों को नगरपालिका के प्रशासक के ही दरवाजे पर रखते देखे जाते।

अखंड शास्त्री पैदल ही चलते रहते। रिक्शे या इक्के का प्रयोग, बीमार, अपंग, कोढ़ी, घायल या मृत को यथास्थान पहुँचाने में ही करते थे। यह कभी नहीं मालूम पड़ सका कि उनका किराया कौन देता था । इक्के रिक्शे वाले तो शायद ही मुफ्त काम करते रहे हों। पर कौन जाने उनके व्यक्तित्व से अभिभूत होकर वे भी परोपकार में लग जाते रहे हों। यह तो निश्चित है कि शास्त्री जी ने कभी भी जबरदस्ती उनसे मुफ्त काम नहीं लिया होगा अन्यथा रिक्शे, इक्के वाले उनकी नजर से हमेशा बचकर चलते। लेकिन चलते तो कहाँ चलते। कहाँ चल सकते थे जहाँ शास्त्री जी नहीं चलते थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे बहुधा हाथ में पंखा लिये अपनी उसी सजधज के साथ रिक्शे में भी नगर भ्रमण करते देखे गये। जाहिर है कि उनकी सवारी में, उन्हें सैर कराने के लिए तो कोई रिक्शा वाला कभी अपनी रोजी नहीं छोड़ता रहा होगा। तब यही मानना उचित होगा कि वे इक्के रिक्शे वालों को उनका पारिश्रमिक भी देते रहे। जो प्रश्न आज भी अनुत्तरित रह गया है वह यही कि उन्हें इस व्यय के लिए पैसे कहाँ से आते थे। कहते हैं काशी में ऐसे धनीमानी व्यक्यिों की कमी नहीं थी जो गुप्त दान में ही विश्वास रखते थे। हो सकता है उनके साथ शास्त्री जी की जान-पहचन रही हो।

अचानक ऐसा दिन वह भी आया जब यह चिरपरिचित शंकर मूर्ति यकायक अदृश्य हो गयी। नहीं पता चला कहां गयी ? क्या हुआ ? शायद किसी ने पता करने की कोशिश भी नहीं की। पर जब से यह धर्मध्वज अदृश्य हुआ, लगा काशी के व्यक्तित्व का एक चप्पा टूट कर गंगा में वह गया। उसकी इमारत का एक कंगूरा गिर गया। फिर न कभी वह निर्मित हुआ और न उसकी पूर्ति हुई। अब, जब भी मैं अखण्ड शास्त्री के बारे में सोचता हूँ तो मेरे सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न झूलता रहता है, जिस व्यक्ति ने जिंदगी भर असहाय, निराश्रित, अपाहिज़, दुर्घटनाग्रस्त और परित्यक्त जीवों को सहारा दिया, उसके अंतिम क्षणों में क्या किसी ने उन्हें भी इसी प्रकार सँभाला होगा ?

□

जीवनी कथा

# अकेलापन

**डॉ. रामदरश मिश्र**

बड़ौदे में नौकरी तो मिली और भटकते हुए जीवन को एक सहारा मिला किंतु पहली बार अहिंदी भाषी लोगों के वातावरण में आया था और इतनी दूर आया था इसलिए मन उदास रहता था। अंतरंग हिंदीभाषी मंडल में भटनागर जी का परिवार था और कक्षा में हिंदी ऑनर्स के चार छात्रों का एक मंडल था। होने को तो हिंदी विभाग के दूसरे प्रवक्ता श्री भारतेंदु सिन्हा भी थे उनका परिवार भी था किंतु वे अबूझ व्यक्ति थे। कभी तो बहुत खिले हुए प्रसन्न चित्त नजर आते थे कभी उलझे हुए। कभी खुलकर स्वागत करते थे, कभी ऐसा रूख दिखाते थे कि वे बहुत व्यस्त हैं और मैं वहाँ अवांछित पहुँच गया। यह व्यवहार मेरे ही साथ नहीं था , यह उनका स्वभाव था। भटनागर जी भी उनके इस प्रकार के व्यवहार के भुक्तभोगी थे। परिवार में उनकी माँ थीं, पत्नी थीं, एक बच्ची थी, दो बहनें थीं। वहाँ जाने पर सभी स्वागत सत्कार करते थे, खिलाते-पिलाते थे। उनकी माँ तो अत्यंत वत्सला थी किंतु कुल मिलाकर वहाँ एक सहजता लक्षित नहीं होती थी क्योंकि यह पूरा परिवार अपनी ही प्रशंसा में लगा रहता था। कभी भारतेंदु जी की प्रतिभा और शैक्षिक उपलब्धियों की चर्चा चल पड़ती, कभी बच्ची को केंद्रित कर प्रशंसाओं की प्रवाह बहता रहता। कभी बहनों की उपलब्धियों की प्रशंसा होती। तारीफ यह थी कि एक व्यक्ति जो बात उठाता, सारा परिवार तह पर तह जमाने लगता। उस परिवार में रहने का मतलब था चुपचाप उनकी आत्म-प्रशंसाओं का निरीह श्रोता बना रहना। मैं सह तो बहुत कुछ लेता हूँ इसे भी सह लेता था किंतु भीतर ही भीतर मैं इस स्थिति के साहचर्य का सुख नहीं ले पाता था बल्कि एक ऊब अनुभव करने लगता था। किंतु मैं उनका सहकर्मी था और मेरे लिए अभी हिंदी भाषी लोगों की दुनिया बहुत छोटी थी अतः उनके यहाँ जाता ही रहता था। मैंने यह अनुभव कर लिया था कि भटनागर जी और सिन्हा जी में व्यक्तिगत और विभागीय सौमनस्य नहीं है। भटनागर जी सीधे और खुले हुए व्यक्ति थे और सिन्हा साहब चालाक और जटिल व्यक्ति। भटनागर जी कायस्थ होने के बावजूद नाम के साथ जुड़े सिंह (उदय सिंह) को सार्थक करते थे। इसलिए किसी भी अधिकारी या प्रोफेसर को नापसंद करने पर या तो उससे टकरा जाते थे सिन्हा साहब सबसे संबंध जोड़ते रहते थे या उदास हो जाते थे और उन पर अपनी योग्यता की धाक बैठाते रहते थे। हिंदी न जानने वालों और हिंदी के शिक्षण से संबंध न रखने वालों ने मुझसे सिन्हा साहब के पांडित्य की बात कही और भटनागर जी के विरोध में भी कुछ कहा।

मैं तो यों ही इस दूर शहर में पहली बार आकर उदास रहता था। दूसरे यह शहर मेरे और परिवार के स्वास्थ्य को रास नहीं आ रहा था। हाइपर एसिडिटी मेरा पुराना रोग था किंतु मैं इसके असली रूप से परिचित नहीं था। केवल पेट का कोई रोग मानकर इसके उभरने पर पेट की

गोलियां ले लिया करता था। यह क्या है ? क्यों है ? इसकी दवा क्या है ? क्या खाना पीना चाहिए आदि बातों से में बिल्कुल अनभिज्ञ था। बड़ौदा आने पर इसका भीषण प्रकोप हुआ। भटनागर जी ने सलाह दी कि डॉ. कुलश्रेष्ठ को दिखाऊँ। डॉ. कुलश्रेष्ठ उत्तर भारत के थे और बड़ौदे के राजपरिवार के डॉक्टर थे। भटनागर जी मुझे लेकर वहाँ गये। उन्होंने देखा और बताया कि हाइपर एसिडिटी है। दवा लिखी। उस वक्त उनकी फीस 15 रुपये थी किंतु मुझसे फीस नहीं ली। भटनागर जी ने बताया था कि वे प्राध्यापकों से फीस नहीं लेते और उत्तर भारत के होने के नाते हिंदी के लोगों से तो उनका खास जुड़ाव है। धीरे-धीरे उनकी दवा से लाभ हुआ और सबसे बड़ी बात यह हुई कि मुझे अपने पुराने रोग की जानकारी मिल गयी तथा कौन सी दवा और क्या भोजन लेना चाहिए इसका ज्ञान हो गया।

मैं सँभला भी नहीं था कि पत्नी रोग की चपेट में आ गयी। उनके पूरे शरीर में फफोले निकल आये। उन फफोलों में भयानक जलन और खुजली होती थी। पत्नी एक अकथ वेदना से गुजरने लगीं। डॉ. कुलश्रेष्ठ की शरण में गये। उन्होंने देखा-दाखा और काफी दिनों में बड़ी मुश्किल से वह रोग सँभाल में आया।

पत्नी सँभली नहीं कि एक भयानक समय हमारे ऊपर टूट पड़ा। दशहरे-दीवाली की लंबी छुट्टी हो गयी थी। एक लंबा सन्नाटा हमारे बाहर-भीतर पसरा था। पढ़ाई के दिन होते थे तो कॉलेज आना जाना लगा होता था, लोगों से भेंट-मुलाकात होती रहती थी और हिंदी ऑनर्स के चार विद्यार्थियों का मेरे घर आना-जाना लगा होता था किंतु छुट्टियों में वे भी अपने-अपने गाँव चले गए थे। क्वार की धूप में एक गहरी उदासी व्यापी हुई थी। अपने यहाँ के दशहरे की बहुत याद आ रही थी और यह याद धूप की उदासी को और गहरा कर रही थी। गाँव बहुत याद आ रहा था। अलगनी पर पसरी हुई मक्के की लाल बालियाँ, बरसाती सीलन से मुक्त होने के लिए फैली हुई धराऊँ साड़ियाँ दूर से अपनी महक और रंग फेंक रही थीं। अपने पूरे भीतरी-बाहरी परिवेश के साथ घर बहुत याद आ रहा था। आज तक घर से बाहर रहा किंतु बाहर रहकर भी अपनों की गहमागहमी के बीच रहा, इन दिनों पहली बार लग रहा था कि घर से दूर हूँ, घर से कटा हुआ हूँ। लगा, जैसे माँ-बाप, भाई-भाभियों आदि की ममता भरी आँखों में हमारे लिए दर्द छलछला आया था। वे आँखें भी मेरी आँखों में उतर आयी थीं।

इसी उदासी में हेमंत की बीमारी एक भयानक यातना बनकर उभरी। हमने एक दिन अनुभव किया कि हेमंत का सिर बाईं ओर को झुक आया है। हेमंत बचपन से ही बहुत नाटकी रहा है। वह दूसरों की नकल करता रहा है। इसलिए हमने पहले यह समझा कि यह कम्बख्त किसी की नकल करके गर्दन टेढ़ी किए हुए है। उसकी माँ ने उसे पीट भी दिया लेकिन जब दूसरे दिन उसकी गर्दन और झुक आयी और बायाँ पाँव लड़खडाने लगा तो हमें कुछ चिंता हुई। पास की डिसपेंसरी में गये। वहां डॉ. पाठक इंचार्ज थे। वे बहुत भले डॉक्टर और मनुष्य थे। उन्होंने देखा और सुझाव दिया कि बच्चे को डॉ. जैन के यहाँ दिखाऊँ। डा. जैन बाल रोग के विशेषज्ञ थे। मैं हेमंत को लेकर घर आया। पत्नी ने बहुत बेचैनी से पूछा, "क्या कहा डॉक्टर ने ?" उन्होंने डॉक्टर जैन को दिखाने को कहा है।" पत्नी की घबराहट और बढ़ गयी। अब प्रश्न था डॉक्टर जैन की फीस क्या होगी ? पास पैसे नहीं थे और शनिवार होने की वजह से 12 बजे ही बैंक बंद हो गया था। भटनागर जी के पास गया। उनके पास भी पैसे नहीं थे। और किसी से हम माँग भी नहीं सकते थे। पैसे माँगे जा

सकने वाला संबंध और किसी से नहीं था वैसे भी पैसे माँगने में मैं बहुत भीरू हूँ अभिन्न लोगों से भी बहुत मुश्किल से माँग पाता हूँ और वह भी तभी जब शीघ्र वापस करने की स्थिति में अपने आप को पाता हूँ। बच्चे की अबूझ बीमारी की व्यथा को हमारी तात्कालिक अर्थहीनता ने और भी भारी कर दिया। पता नहीं डॉक्टर की क्या फीस होगी और जब मैं फीस न दे पाऊँगा तो वे क्या व्यवहार करेंगे ? अब जो भी हो बच्चे को तुरंत दिखाना था और उसके बाद जो होगा देखा जाएगा।

बच्चे को लेकर डॉक्टर के यहाँ गया। उन्होंने विस्तार से जानकरी ली और यह बात बार-बार पूछी कि आपके खानदान में किसी को टी. बी. तो नहीं थी। मेरे 'नहीं नहीं' कहने पर भी वे बार-बार पूछते रहे कि सोचिए ऐसे किसी व्यक्ति के संपर्क में तो नहीं रहे जिसे टी. बी. रही हो। मुझे कुछ याद नहीं आ रहा था। इसलिए इसे भी इनकार किया। बाद में घर पहुँचने पर पत्नी ने एक मित्र की याद दिलायी कि उनकी पत्नी को टी. बी. रही है और हेमंत को उस परिवार से बहुत प्यार मिला था। प्यार के साथ यह असर भी मिल गया होगा। काफी जाँच पड़ताल करने के बाद डॉक्टर ने बताया कि बच्चे को पोलियो है। पोलियो का नाम सुनते ही मेरे होश उड़ गये। डॉक्टर ने कहा इसे तुरंत सयाजी राव अस्पताल में भरती कराइए। बच्चों के वार्ड का इंचार्ज मैं ही हूँ। चिट्ठी लिख दे रहा हूँ कोई परेशानी नहीं होगी।

डॉक्टर की फीस पूछी। उन्होंने बताया पंद्रह रुपये। मैंने साहस जुटा कर कहा "डॉक्टर साहब मैं आज फीस नहीं दे पाऊँगा। परसों दूंगा।" वे थोड़ा अचकचाये। उन्हें कुछ अजीब सा लगा होगा कि यह कौन आदमी उधार चिकित्सा कराने आ गया है। मैंने कहा "डॉक्टर साहब, मैं विश्वास करने के योग्य व्यक्ति हूँ विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में लेक्चरर हूँ। आज एकाएक आपके पास आ जाना पड़ा, न मेरे पास पैसे थे न मेरे मित्रों के पास। परसों बैंक खुलते ही आपका पैसा चुका दूँगा।

वे लेक्चरर का नाम सुनकर आश्वस्त-से हो गए। पूछा, कब आये हैं ?

"तीन चार महीना पहले आया हूँ।"

"कोई बात नहीं पैसे मिल जाएंगे, बच्चे की चिंता कीजिए। आज ही, अभी इसे लेकर अस्पताल जाइए।

किसी तरह गिरता-पड़ता घर पहुँचा। पत्नी बहुत बेचैनी से प्रतीक्षा कर रही थी। जाते ही पूछा - क्या हुआ ?"

"पोलियो ?"

"यह क्या है ?"

"एक तरह का लकवा ?"

उन्होंने झपट कर हेमंत को अपनी गोद में ले लिया और भींच कर रोने लगीं। हमारे आसपास सामान्य तबकों के ही लोग रहते थे। वे जुट आये और आर्द्र कंठ से समझाने लगे - मत रो बाई, भगवान सब भला करेगा।" हम दोनों हेमंत को लेकर अस्पताल पहुँचे। वह तुरंत भर्ती कर लिया गया। रात हो आयी थी। हेमंत की चेंकिंग शुरू हुई। उसे एक कमरे में ले जाया गया। हम लोग बाहर निष्प्राण से बैठे उसके निकलने का इंतजार करते रहे। जब निकला तो उसकी बुश-शर्ट खून से भीगी थी। पत्नी चीख-सी उठीं। नर्स ने समझाया - "रोओ मत बेन, यह तो उसकी बैकबोन से पानी निकाल कर जाँच की गयी है।" हेमंत अचेत सा था। उसे ले जाकर खाट पर सुलाया गया और आक्सीजन की नली उसकी नाक से लगा दी गयी। हाथ-पाँव भी जकड़ दिये

गये। हम तो बाहर खड़े रहे, जब उसकी यह सारी गति बना दी गयी, तब हमें अंदर बुलाया गया। उसे इस हालत में देखते ही हृदय चिंग्घाड़ उठा। पत्नी मुँह दबाकर हँसने लगी। मैं सारी वेदना दबाकर हतप्रत सा खड़ा रहा, फिर बाहर आकर एक जगह निढाल सा बैठ गया। डॉ. जैन दिखे। "कहिए डॉक्टर साहब क्या हालत है।" "देखिए अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। आज की रात गुज़र जाए तो कुछ कहा जा सकता है। नर्स ने आकर कहा आप जाइए। मिसेज मिश्रा चाहें तो ठहर सकती हैं।"

समस्या अंजू बेटी की थी। छोटी सी बेटी को लेकर वे अस्पताल में कैसे ठहर सकती हैं और बेटी मेरे साथ रात को रहेगी नहीं। अतः तय हुआ कि पत्नी घर जायें। मैं यहाँ बाहर बेंच पर सो लूँगा। वे चली गयीं। मैं नीचे चला आया। नर्सों से कह आया कि मैं बेंच पर रहूँगा, कोई आवश्यकता हो तो बुला लिया जाऊँ।

वह क़यामत की रात थी। कार्तिक के प्रथम पक्ष की कुछ भीगी हुई रात। खुले आकाश के नीचे नंगी बेंच पर मैं लेटा हुआ। नींद कहाँ आनी थी। लगता था अस्पताल भर का दर्द मेरी छाती में कस गया है। दो एक बार रोने की आवाज़ें सुनाई पड़ी लगा कोई गुज़र गया है। विलाप की आवाजें लू की तरह मुझे भीतर तक चीरतीं और अपने पीछे दहशत का भयानक सन्नाटा छोड़ती गुजर गयीं। घर में जागती पत्नी के हवसने की आवाज़ मेरे भीतर बज रही थी। बिटिया को छाती में दुबकाये इस भयानक रात से लड़ रही होंगी। यहाँ मैं लड़ रहा था। जागते-जागते नींद आ जाती थी तो चौंक कर जाग जाता था कि ऊपर से कोई बुरी खबर न आ रही हो। सारी रात बुरी खबरों की आशंका से लद गयी थी और मैं उसे जागते-सोते ढो रहा था। आखिर रात बीती। ऊपर गया। हेमंत अभी उसी अवस्था में पड़ा था। डॉक्टर की बात याद आयी कि आज की रात बीत जाए तो कुछ कहा जाए। आज की रात तो बीत गयी। डॉक्टर दिखाई पड़े। उनसे पूछा तो बोले "पहले से तो ठीक हालत है किंतु अभी भी कुछ कहा नहीं जा सकता। अभी भी वह खतरे से बाहर नहीं है।" यानी चिंता और आशंका का जो पहाड़ हमारे ऊपर लदा था वह ज्यों का त्यों लदा रहा, एक इंच नहीं सरका।

पत्नी आयीं और मैं अंजू को लिए घर चला गया। गुजरात में लोहे या बेंत की एक टोकरी मिलती है जिसे सायकिल के आगे टाँग देते हैं और उसमें बच्चे को बैठा देते हैं। जहाँ चाहिए जाइए, बच्चे थकते नही हैं। मैंने भी अपने बच्चों को खूब घुमाया है और इस समय तो यह टोकरी बहुत काम आ रही थी। अंजू को बैठाकर अस्पताल जाता था। घर आता था, बाजार जाता था। और कौन था देखभाल करने वाला?

मैं कह चुका हूँ कि जहाँ मैं था वह मोहल्ला प्रायः सामान्य लोगों का था। हमारे मकान-मालिक संपन्न थे और कुछ पारसी परिवार थे जिन्हें संपन्न कहा जा सकता था। हमारे मकान के ठीक सामने एक ग्वाला परिवार था। परिवार गरीब था परंतु लोग बहुत अच्छे थे। उस घर में एक जवान बेटी थी काशी जो हमारे घर से बहुत हिली-मिली थी। इस परिवार के लोग अपनी सारी मानवीय आर्द्रता हम पर उड़ेल देना चाहते थे। उसकी बगल में एक पटेल परिवार था। मालकिन थी एक मोटी पटेलानी जो ठेठ औरत थी और उसका पति पटेल पियक्कड़ था। उसके यहाँ उसी तरह के यार-दोस्त आया करते थे और पी-पीकर ऊधम मचाया करते थे। कभी-कभी पटेल-पटेलानी आपस में खूब गाली-गलौज, मार-पीट करते थे। आसपास के लोग इनसे डरते

थे। मुझे बड़ी घिन थी इस परिवार से। सुना था कि पटेलानी पटेल की ब्याहता बीबी नहीं थी। उन्हें कोई संतान नहीं थी। मैं घर पर अंजू बेटी को लिये-दिये कुछ घरेलू काम निबटा रहा था। पटेलानी आयी। मैंने पूछा "क्या है ?"

"अरे कुछ नहीं रे मास्टर, जब से तमेरे बच्चे का हाल सुना है, पटेल को और मुझे नींद नहीं आयी। भगवान भी कैसा है कि तमेरे जैसे अच्छे-अच्छे लोगों को मुसीबत में डाल देता है। अरे हमेरे को सताता है तो ठीक है। हम लोग तो पापी हैं; न जाने क्या क्या करते हैं पण तुमेरे को क्यों सताता है ?" उसकी आँखें भर आयी थीं।

मैं विश्वास-अविश्वास के द्वंद्व में पड़ा रहा। इस औरत के प्रति जमे हुए तिरस्कार-भाव की चादर एक दम जगह-जगह से दरक उठी किंतु उसे मैं झटक कर फेंक नहीं सका। हम लोग पढ़ते आये हैं और सिद्धांतः इसका समर्थन भी करते हैं कि सफेद पोश लोग भीतर से बहुत ठंडे और निस्संग होते हैं और बाहर-भीतर से गंदे दिखाई पडने वाले लोग वास्तव में भीतर से बहुत भावोष्ण और मानवीय सरोकार वाले होते हैं किंतु जब इस सिद्धांत को व्यवहार में उतारने का समय होता है तब दुविधा में पड़ जाते हैं। उनके दृश्य क्रिया व्यापार हमारे ऊपर इतने हावी हो जाते हैं कि उनके अदृश्य आलोक को नहीं पहचान पाते। इसमें एक तो हमारे मध्यवर्गीय संस्कार बाधक होते हैं दूसरे यह आवश्यक नहीं कि हर पिछड़े हुए आदमी में अनिवार्यतः वह आलोक हो ही। कई बार हम उनसे गुजरते हुए उनके अमानवीय क्रिया व्यापारों के अनुभवों से भी गुजर जाते हैं। अतः हम हर समय यह निश्चय नहीं कर पाते कि बाहर से गंदा दीखने वाला व्यक्ति भीतर से अच्छा होगा ही। मैं पटेल परिवार के दृश्य क्रिया व्यापारों का द्रष्टा रहा हूँ और ये क्रिया व्यापार किसी भी पढे-लिखे व्यक्ति के लिए सहय नही हो सकते और वह इनसे दूर-दूर रहने में ही अपनी प्रतिष्ठा और हित समझता है। किंतु पटेलानी को आज नज़दीक से देखकर और उसकी बातचीत से उसके अदृश्य का एक आभास पाकर मेरी तटस्थता हिल गयी थी और पटेलानी को गौर से देखने लगा था।

"मास्टर तुम इस बच्ची को हमेरे पास छोड़ दो, हम इसे प्यार से रखेगा और तुम बच्चे का ख्याल करो।"

उसका प्रस्ताव सुनकर मैं अजीब पशोपेश में पड़ गया। बच्ची को इसके पास छोड़ दूँ ? न जाने ये उसके साथ क्या व्यवहार करें।

"क्या सोचने लगे मास्टर ? यही न कि हम लोग गंदे हैं, शराब पीते हैं, झगड़ा करते हैं। अरे यह सब तो हमेरा मामला है। इस बच्ची को तो देवता की तरह रखेंगे।" मैं कुछ नहीं बोला। पटेलानी ने बाहें पसार दीं। मुझे डर लगा कि बच्ची उसे देखकर चिल्ला न पड़े किंतु वह उसकी गोद में चली गयी। शायद उसकी निश्छल आँखें पटेलानी के भीतर की निश्छलता और सोये हुए ममत्व को अधिक सहजता से पहचान गयी।

मैं थोड़ा निश्चिंत होकर गृह कार्य करने लगा किंतु फिर भी चिंता बनी हुई थी कि बच्ची को पता नहीं ये कैसे रखें। खाना खाकर थोड़ा सो लिया तो पत्नी को भेजने के लिए अस्पताल जाने की तैयारी की। बच्ची को लेने गया तो देखा पटेल पटेलानी बच्ची को गोद में लेकर नाच रहे थे। उसके हाथ में लालीपॉप था। उसे चूसती हुई पटेल दंपत्ती के नाचने-गाने की लय पर खिलखिलाकर कर हँस रही थी। मैं उसे लेने गया था किंतु उसे खुश देखकर विचार बदल दिया। पटेलानी को बोल दिया कि मैं अस्पताल जा रहा हूँ इसकी माँ को भेजने।

"जाओ मास्टर। कोई फिकर मत करो। यह छोकरी तो हमसे थोड़ी ही देर में हिलमिल गयी।"

छुट्टियों के इस सन्नाटे में कोई भी साथ नहीं था। यदि ऑनर्स के छात्र होते तो शायद भाग-दौड़ करते और हमारे इस भयावह समय में हमारे साझीदार होते। इस सन्नाटे में पटेल पटेलानी का घुस आना मुझे अच्छा लगा। चलो कोई तो आया हमारे दर्द का साझीदार बनकर।

दूसरा दिन भी बीता। उसी तरह मैं रात को अस्पताल के बाहर बेंच पर सोया। और उसी तरह रात चिंता बनकर मेरी नींद पर सवार रही और आशंकाओं की कौंध भरती रही। उसी तरह डॉ. जैन ने जवाब दिया कि अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर भी हालत कुछ बेहतर लगी, ऑक्सीजन की नली-वली निकाल दी गयी थी। तीसरे दिन मैं सुबह सुबह गया तो हेमंत अपने बेड पर बैठा हुआ था। उसे देखकर मैं बाथरूम चला गया। वहाँ से वापस आने को जैसे ही मुड़ा देखा हेमंत लंगड़ी मारता हुआ हँसता हुआ मेरी ओर लपका आ रहा है। करूणा से मन भर आया। लपक कर उसे उठा लिया और आँखों में आँसू छलछला आए। सुबह-सुबह पत्नी भी घर से आ गयीं। डॉ जैन प्रसन्न मुद्रा में थे और हँसते हुए पत्नी से कहा "बेन मैं आपको दीवाली का एक बहुत बड़ा तोहफा देना चाहता हूँ।"

"वह क्या डॉक्टर साहब ?"

"आपका मुन्ना। कल इसे ले जाइए और खूब खुशी के साथ दीवाली मनाइए। इतनी शुभ दीवाली आपने कभी देखी नहीं होगी।"

"देखी है डॉक्टर साहब। अपने पति को भी एक बार दीवाली के आसपास ही वापस पाया है। "तब तो दीवाली आपके लिए बहुत शुभ त्यौहार है, बधाई।"

"हम लोग आपके बहुत आभारी हैं डॉ. साहब, किन शब्दों में धन्यवाद दें।"

"नहीं, प्रो. मिश्र धन्यवाद की कोई जरूरत नहीं। आप नहीं समझ सकते कि एक बच्चे को उसे माँ-बाप की झोली में डाल कर डॉक्टर को कितनी खुशी होती है। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है इस बच्चे को वापस पाकर।

हमारी आँखें खुशी और कृतज्ञता के कारण आँसुओं से भर आयी थी, बरसने लगी थीं। पाँचवे दिन हेमंत को अस्पताल से छुट्टी देते समय डॉक्टर ने कहा था -देखिए प्रो. मिश्र इस रोग के असर को दूर करने के लिए कोई दवा नहीं है। बस जितना हो सके अंडा, मांस, मछली खिलाइए, यही एक मात्र इलाज है।"

मुन्ने को वापस पाकर हमने एक नयी ज़िंदगी पा ली थी। पत्नी स्वयं शाकाहारी हैं, पर बच्चे के लिए माँ क्या नहीं कर सकती। उन्होंने अंडा, मछली, मांस सब कुछ पकाना शुरू किया और वास्तव में उसका अच्छा प्रभाव पाया। महीना भर में ही हेमंत का पोलियो-प्रभाव काफी दूर हो गया और वह लाल हो गया। डॉक्टर जैन ने इसे देखकर कहा था -"वाह कमाल किया मिसेज मिश्रा आपने। आज तक पोलियो से ऐसी रिकवरी नहीं देखी थी।"

□

---

"जीवन का सफरनामा" के तीसरे खण्ड 'टूटते-बनते दिन' का एक मार्मिक अंश

# आत्मीयता के सोते

**सोमदत्त**

जीवन में आपको कब, कहाँ अचानक आत्मीयता मिल जाये, ठिकाना नहीं। कब, कहाँ आपको मानव स्वभाव के ऐसे क्षणों का भागीदार होने का अवसर मिल जाये जिससे सिद्ध हो कि आत्मीयता कायम होने के लिए भाषा जानना जरुरी नहीं, यह भी हम नहीं जानते। रूस यात्रा के तीसरे या शायद चौथे दिन अलग-अलग संदर्भो में दो अनुभव ऐसे हुए जिससे मेरे भीतर कविता और मौन दोनों की गहरी अर्थवत्ता के नये रहस्य खुले।

सोवियत लेन्ड नेहरू पुरस्कार से लगभग एक बरस पहले अनिल जनविजय ने मुझे खबर दी थी कि मेरी लंबी कविता "कागुएवात्स में पूरे स्कूल के साथ तीसरी कलास की परीक्षा" - का रूसी में अनुवाद हो रहा है। उसकी मदद से एक रूसी कवि उसे अनूदित कर रहे हैं।

जुलाई 86 में मास्को पहुँचने पर अपनी कविता के अनुवादक कवि से अनायास मुलाकात ने मुझे कविता के सोते से निसृत हुई आत्मीयता का पहला अनुभव दिया।

अनिल ने फोन करके अचानक बताया था कि सवा तीन बजे "कागुएवात्स ......" कविता के अनुवादक, कवि, सोवियत लेखक संघ के सदस्य, "मस्क्वा" नामक प्रख्यात साहित्यिक पत्रिका के उप संपादक से मुलाकात होगी। वे होटल आएँ। चूँकि उनके पास 'पास' नहीं होगा (गुडविल गेम्स)। इसलिए मेरा नीचे होना जरुरी है। ठीक सवा तीन बजे जब मैं नीचे उतरा (मुँह हाथ धोके) तो होटल लॉबी में जिस शख्श को खड़ा पाया उसे देखते ही लगा - खूब गुजरेगी जो मिल बेठेंगे दीवाने दो।

वह शख्श मेरा हम कद, हम उम्र मालूम हुआ। रूसियों जैसा ही गोरा, सुर्ख रंग, काले घुंघराले बाल, नीली आँखे।

परिचय होते-बोल फूटते-हाथ मिलाते यह प्रकट हुआ (धारा मैंने भीतर) मन में कि इस कदर निश्चल दृष्टि, मुस्कुराहट और गर्म हथेलीवाला आदमी भला होना ही चाहिए। वह निकला भी।

सुबह से मैंने लगभग कुछ नही खाया था - नाश्ता जरूर किया था अनिल के साथ, दो रूबल (दो रूपये वाला) वाला रूसी रसोई में। चाहता तो इतना खाया जा सकता था कि कल तक जरूरत न महसूस हो लेकिन अपने राम की सुबह नाश्ते की आदत नही। चाय और

जबरदस्ती कुछ टूंगने लायक ही भूख होती है सुबह नाशता सवा नौ पे । वरना वहाँ तो ऐसे भाँति-भाँति के पकवान थे कि बस .....

खैर भूख की याद कर मैंने कहा हम लोग सीधे भोजनालय चलें । खाना खाते हैं । ऊपर पहुँच मैंने अनातोली से कहा - "आप आर्डर दें अच्छे खाने का, जो आपका पसंद हो, साथ में कुछ सोमरस भी ।" सोमरस की भारतीय पौराणिक तफसील सुनते ही अनातोली का-अनातोली पारपरा का चेहरा खिल उठा । उन्होंने वेटर को आर्डर दिया --

खाना-पीना आए तब तक बातचीत शुरू हो चुकी थी ।

मैंने अनातोलीसे कहा

ये तमाम बातें अनिल के माध्यम से हुई । उसने काबिल दुभाषिए का काम किया -

" सबसे पहले तो आपको धन्यवाद देना चाहता हूँ कि आपने मेरी कविता अनुवाद के लिए चुनी"

" धन्यवाद तो अनिल को दीजिए, उसी ने यह कविता मुझे सुनाई, समझाई" - बोले अनातोली ।

"उसे क्या धन्यवाद देना, वह तो छोटा भाई है ।"

" याने छोटा भाई , छोटे भाई का कर्तव्य निभा रहा है ।"

" हाँ .. अच्छा बताइए आपने जब वह कविता सुनी-फिर पढ़ी - तो आपको कैसा लगा, कैसी लगी वह कविता ।"

अनातोली आँखों, होठों, भौंहों और हथेलियों- सबसे बात करते हैं- पल भर खामोश रहे, फिर बोले- "मैंने युद्ध की यातनाएँ भोगी हैं । मेरे माता-पिता दोनों युद्ध में थे- मैंने बच्चे की तरह जाना है कि युद्ध क्या होता है । आपने तो युद्ध नहीं भोगा लेकिन बिना युद्ध भोगे उस यातना को अनुभव किया . .

. . कविता पढ़ते हुए, मुझे वे दिन याद आ गए- आप नही जानते कि मेरे अनुवाद में- " ममा" शब्द मूल से ज्यादा बार आया है (इस वक्त अनातोली की तरैंया भरी थीं - झिलमिला रहीं थीं पुतलियाँ ) -पढ़ते , पढ़ते मैं रो पड़ा । आपकी कविता उन तमाम लोगों के लिए तो है ही जिनने युद्ध भुगता है उनके लिए भी जिनने नही ...

....मेरी पत्रिका दस लाख छपती हैं । और कम से कम दो पाठक एक प्रति पढ़ते हैं । रूस में बीस लाख पाठक इसी महीने वह कविता पढ़ेंगे और मुझे विश्वास है कि वे सब ऐसा ही महसूस करेंगे । आप उनके अपने कवि होंगे ।

इस बीच मैं भला क्या कहता । ऊब-डूब रहा था भावनाओं के ज्वार में । पहुँच गया था फिर " क्रागुएवात्स" की उन समाधियों और आखिरी चिट्ठियों के बीच जैसे कि बार-बार पहुँचा हूँ।

अनातोली भी लगता है-युद्ध झेलने के बावजूद कच्चे मन के हैं, मुझ जैसे ( जो फिल्में देखते अँसुए ढरकाने लगता है)-तभी तो ये बातें करते-करते उनकी आँखें और आवाज दोनों ऐसी भर आई कि बरबस मेरी बाई हथेली उनकी दाई पर जाकर जम गई - शायद ढाढ़स बँधाने के लिए ..

वोदका आ चुकी थीं, काले/पीले केवियर (मछली के अंडों की जगदविख्यात रूसी डिश), मशरूम, मक्खन, चीज आ चुके थे। काली और सफेद रोटी तो पहले ही रखी थी टेबिल पर।

अनातोली ने बोतल खोल के तीन गिलासों में ढाली – सबने जाम उठाए। मैं जाम से जाम टकराऊँ कि मेरी आँखें डाल पारपरा बोले– "हमारे यहाँ जाम पढा जाता है, मैं आपके लिए पढ़ँगा" (मुझे युवा भारतीय कवि अनिल जनविजय की रूसी पत्नी का जाम पढ़ना याद आया)।

"मास्को मेरा घर है, मेरा जन्म स्थान है और मैं उस मास्को जर्नल के संपादकों ( रूसी में डायरेक्टर कहते-लिखते हैं) में से एक हूँ जिसमें आपकी कविता रूस में पहली बार छप रही है। यों मैं तीन तरह से आपका आतिथ्य हुआ। मास्को में अचानक ऐसे कवि को जाम पेश करते मुझे खुशी हो रही है।"

अचानक मेरे मुँह से निकल पड़ा – " मास्को की पहली और संभवतः अंतिम यात्रा में अचानक मिले, खुली बाहों, स्नेह भरी आंखों वाले अपने मित्र और दुनिया में एक तरह से धड़कनें वाली उस धड़कन के धनी के नाम यह जाम जिसने मेरा मास्को प्रवास सुख और संतोष से भर दिया।"

"लेकिन अंतिम क्यों ?"

"इसलिए कि यही यात्रा छप्पर फाड़ के आसमान से टपकी है और मुझ जैसे अपने में मगन, बड़े-मानों की संगत से अक्सर दूर रहने वाले आदमी के लिए यह असंभव है कि दुबारा आना हो ?"

"मुझे भरोसा है कि छप्पर दुबारा फटेगा।"

मैंने जाम उठाया और टकराने के लिए अनातोली के जाम की ऊँचाई के बराबर ले गया। मार्क करता हूँ कि अनातोली ने अपने जाम (की कोर मेरे जाम) के तल के पास याने मेरे गिलास से नीचे कर ली है। यह देख मैंने पूछा, "ऐसा क्यों कर रहे हैं आप ?"

"हमारे यहां कायदा है कि जाम टकराते वक्त यदि हम किसी का सम्मान करते हैं, उसे आदर का पात्र समझते हैं तो जाम उसके जाम से नीचे रखते हैं, जिसे बराबरी का हकदार समझते हैं उसके बराबर रखते हैं, और जिससे नाराज होते हैं, जिससे लडना चाहते हैं उससे जाम खटखटाते यानी अपना-गुस्सा जताते हुए जोर से टकराते हैं।"

"तब फिर तो में अपना जाम नीचे करता हूँ" और मेंने नीचे कर लिया अनातोली ने फिर स्थिति बदल ली - मुझे भीतर ही भीतर याद आया लखनवी अंदाजा अंततः मैंने जाम उठाया और एक साँस में गटक गया। निकोलाई ने भी उसी तरह उठाया और खाली किया। अनिल ने भी।

हाँ, याद आया, बातें करते जाम गटकने से पहले अनातोली ने मक्खन की पूरी टिकिया और चीज के दो कतरे मेरी ओर बढ़ाए थे यह कहते कि "आप लोग तो पीते नहीं, हम रूसी बहुत पीते हैं ( बोतल क्या – अद्धी /गोर्बाच्चेव महोदय के प्रताप से आजकल अद्धियाँ ही मिलतीं हैं वोदका की ) (इसीलिए कामरेड गोर्बाच्योव ने हवा टाइट की है), मैं भी, लेकिन पीने से पहले हम मक्खन ढेर सारा खाते हैं, पनीर भी।"

ताकि अंतड़ियों में चिकनाई आ जाय और अल्कोहल कम असर करे। लेकिन हमारे यहाँ इतना मक्खन नहीं होता, होता भी है तो महँगा। शराब और मक्खन के जोड़ का यह राज़ पहली बार मुझे ट्यूशन पढ़ाने के दिनों (तब मैं कॉलेज में था ) पता चला।

सिर हिलाते अनातोली काली रोटी में मक्खन लगा रहे थे - मक्खन की सतह पर उनने काली कैवियर की परत जमाई और तैयार पीस मेरी ओर बढ़ा दिया। बढ़ाते-बढ़ाते अनातोली ने अनिल को मार्क करते (उसने ब्रेड स्लाइस पर पहले अंडों की परत जमा ली थी, और अब उस पर मक्खन रगड़ने की कोशिश कर रहा था) बोले आहिस्ता से, जैसे कोई अपने छुटके से कहे-"ऐसे नहीं खाते, केवियर पहले कभी मत रक्खो-रगड़ोगे तो अँडे फूट जाएंगे। खाने-पीने का एक कल्चर होता है - उसे सीखो।"

बेचारा अनिल - जो आज किसी भी रूसी जैसी रूसी बोलता है, कइयों से ज्यादा परिश्रम करता है, कमाता है, ज्ञान हासिल करता है, देता है, प्रेम पाता है, देता है, वो आखिरकार हम आम भारतीयों की तरह धुर्र साबित हुआ-खाने पीने के नखरों के मामले में। और वैसे भी -केवियर-नाम की यह चीज रूस में अय्याशी ही समझी जाती है। मछलियों के ये काले अंडे तो दूकानों में पहुँचते ही नहीं-क्योंकि वे अमूल्य विदेशी मुद्रा कमाते हैं, "गूम" में भी नहीं – यह दूकान तो क्रेमलिन के बाजू में है– सबसे बड़ा सुपर मार्केट रूस का 1000 दूकानों वाला। वहाँ भी न मिला मुझे आखिरी रोज।

खाने पीने में ढोंग भारतीयों को बर्दाश्त नहीं। हाथ हैं। पाँच ऊंगलियां। भूख है। कौर है। मन है। स्वाद है। जैसा चाहो खाओ। कढ़ी भात में मिलाकर या भात दाल में। कढ़ी ही कढ़ी पियो या उसकी पकौड़ियाँ, बड़ियाँ, बूदी, लौकी, भटे के टुकड़े, मुनगँ (कौंसें) अलग-अलग खाओ या दोनों साथ। त्रिलोचन जी जैसे भात, दाल, रोटी, अथान, रायता, चटनी, गुड़, मिठाई सब अलग-अलग खाओ या इन सबका अंतरे-दूसरे स्वाद लो। मनमौजी कल्चर है हमारे यहाँ। ऐसे को पश्चिम का चम्मचिहा कल्चर-वह भी समाजवादी देश के पकवानों विरल- "काले कैवियर" को मक्खन के साथ खाने का तरीका अब तक अनिल को नहीं आया। अच्छा ही है।

दूसरा जाम उठाने का छिन आन पहुँचा था– पार परा उसे ढाल रहे थे -

वोदका ढाल के अनातोली ने दूसरा जाम पढ़ा -

"उस आदमी के नाम जो मुझे वैसा ही मिला जैसा मैंने उसे कविता में पाया था। मुझे खुशी है कि कवि को जानने से पहले मैं उसकी कविता से परिचित हुआ। उस आदमी के नाम जो पहली नजर में ही मुझे अपने जैसा और अपना लगा।"

मैंने उठाया अपना गिलास। पारपरा ने अपने गिलास की कोरें फिर नीचे करलीं। यह जान कि यह नहीं मानेगा - मैंने अपना जाम खाली किया– "तभी अनिल से– जिसने इतने बरस पच्छिम में - रूस में ठंडे बर्फानी मुलक में रहने, एक रूसी कन्या से (जो लक्षणों से भारतीय बहू है) विवाह करने और रूसी बेटी का पिता होने के बावजूद खुद को दुनिया भर में बढ़ती शराबखोरी से दूर रखा तो यह उसके बचपन-लड़कपन–यौवन में किए गए संघर्ष का प्रमाण ही है। हाँ, तो तभी, अनिल से चूक हो गई (बच्चों की एक शानदार रूसी कथा का नाम है "चूक और गेक"। दूसरा जाम (जो उसने भरने से मना किया था पारपरा को) टकराने के बाद उसने नीचे रख दिया तुरंत, और नहीं पीना चाहता था वो। उसे काम पर जाना था। पारपरा ने टोका –

"ऐसा कभी मत करना, यह पीने के "कल्चर" के खिलाफ है। महफिल में कोई यदि ऐसा करे तो झगड़ा हो सकता है, पीने की इच्छा नहीं है और किसी ने जबरन जाम ढाल दिया है, तो उसे होठों तक ले जाओं, उनसे शराब छुलाओ सिप लो और रख दो, सिप छोटा से छोटा।"

अबकी बार ब्रेड-बटर के ऊपर मशरूम (कुकुरमुत्ते) की पर्त थी।

मुझे याद आया - मैंने कहा - इयान फलेमिंग का जेम्सबांड जब भी खूबसूरत स्त्रियों के साथ होता है, उन्हें पटाता है तो "मशरूम" मँगाता है - ज्यादातर।"

"मैं "मशरूम" से ज्यादा बार औरतें पाना चाहूँगा।"

समय सरक रहा है - यह आभास मुझे हुआ - क्योंकि समय घड़ी में था - घड़ी मेरी कलाई में- और वह यकायक नजर आ गई थी कलाई के सीधे होते ।

अद्धी में थोड़ी सी बची थी - उसे खत्म करना जरूरी था - भले ही यह समुद्री मछली और धरती पर पला-भुना मुर्ग बच जाय।

तीसरा जाम दोनों के बीच बाँटते अनातोला ने कहा- "आपको नहीं मालूम कि मेरा छोटा भाई आपकी कविता का उक्रेनी में अनुवाद कर रहा है। याने आप यूक्रेन पहुँचेंगे उसके पहले वहां भी आपकी कविता पहुँच चुकी होगी।"

"यानी हमेशा की तरह यहाँ भी छोटा भाई बड़े के काम आ रहा है।"

"तो यह तीसरा जाम मैं दोनों छोटे भाइयों के नाम पढ़ता हूँ"

जाम पढ़ा गया, दोनों की रचनात्मक समृद्धि के लिए।

4.30 हो रहे थे- मैंने कहा बाकी रख लें। अनातोली ने सिर हिला दिया - नहीं। खत्म की।

कमरे में पहुँचे। काउन्टर पे बैठी मदाम येलेना ने चाबी देते बताया - कोई सज्जन आपको खोजते आए थे, न पाकर नीचे गए हैं ढूँढ़ने। अब कहीं न जाएँ, कमरे में रहें। मैं समझ रहा था, गड़बड़ हो गई। पंक्चुअल होने का यही दुष्परिणाम होता है। जरासी देर हुई कि हाय तौबा मची।

पारपरा कैमरा लेके आए थे- फोकस कर रहे थे कि धड़ाम से दरवाजा खुला। हांफ्ते ईगोर महानुभाव-आते ही बोले अंग्रेजी में - "बस, बंद, अब कुछ नहीं, चलिए।" अनिल ने कहा "फोटो खींच लेने दें।"

"ईगोर क्रोध में-"कुछ नहीं।"

कुछ नहीं कैसे-मैं फोटो खींचूँगा - तुम कौन होते हो मुझे मना करने वाले" अनातोली ने गुस्से से बिफरते कहा।

अनिल ने बीच-बचाव की कोशिश की। अनातोली का परिचय दिया। ईगोर के गुस्से पर छींटे पड़े, कुछ ठंडाया। फोटोग्राफी हुई। सामान समेटा गया और मैंने-तीन लोगों-तीन मास्कोवासियों के साथ कमरा नं· 701 से विदा ली।

ज्यार्जिया की राजधानी त्बिलिसी की ओर उड़ते दूसरा अनुभव हुआ।

शाम छः बजे हवाई जहाज में बैठे। वही एयरोफ्लोत - दुनिया की सबसे कड़ी हवाई सेवा। चढ़ने के लिए लाइन लगी थी। लेकिन जहाज से जुड़ी सीढ़ी के चौथे पायदान पर खड़ी विमानबाला ने पहले पुकारे नाम "इनतूरिस्त" यात्रियों के। इन्तूरिस्त (भ्रमण एजेंसी) की सहायिका ने आगे बढ़कर कुछ कार्ड उसे थमा दिए थे और हमें आँखों-आँखों बढ़ने का इशारा करते कहा था "पज़ाल्स्ता।" कंधे पर अनिल का दिया रेगज़ीन का थैला लटकाए आगे बढ़, सीढ़ियों चढ़ते यान के द्वार पर पहुँचा। वहाँ भी एक सुन्दरी स्वागत की मुद्रा में व्यावसायिक मुस्कान धारे खड़ी थी। बोली धीरे से "पाज़ाल्स्ता"। इस विमानबाला के काले, लहरिया, गर्दन तक आते केश ) शायद

रंगवाए हों– या क्या पता प्राकृतिक हो उनका रंग ) सुतवाँ नाक, आँखें और माथा देख अल्का-अल्का चंद्रकी याद आई। हां इसकी रंग इक्कीस था, उन्नीस की तुलना में –गोराई के )।

बोर्डिंग कार्ड देख हथेली से बाई ओर जाने का इशारा करते उसकी मुस्कान घूम गई सीढ़ियों से आते मंगोल रक्त और मुखड़े के तीन यात्रियों की ओर। उनके साथ भी एक रूसी दुभाषिया था।

मेरी सीट का नंबर दस और ईगोर की सीट का नौ था। दोनों की सीटों के बीच गलियारा। दोनों की सीटें कोने की। रूसी यात्रियों का आना शुरू हुआ। देखता क्या हूँ कि उनकी छवि हवाई जहाज में बैठने वाले यात्रियों से बिलकुल मेल नहीं खाती (जाहिर है मेरा अनुभव चंद अंतर्राष्ट्रीय उड़ानों तक सीमित था। देश में तो मैं रेल से ही सफर करता हूँ) उन्हें देख के तो ऐसा लगा जैसे यह कोई हवाई जहाज न होकर भारतीय रेल का डिब्बा या बस हो। साधारण कपड़े पहने, थैलों में सब्जी भाजी, कपड़े-लत्ते, खिलौने, किसिम-किसिम के डब्बे भरे थे- वैसे ही अजर-गजर जैसे हम जैसे साधारण लोग भरते हैं। इनमें कुछ बुजुर्ग अपने पूरे परिवारों के साथ थे, याने बेटे-बहू-बेटियाँ, नाती-नतरे-दादियाँ। कंधों पर थैले लादे हाथों में बोर्डिंग कार्ड लिए सहज स्वरों में बतियाते सब ने अपनी सीटें ढूँढ़ी। खाकी ड्रेस पहने दो युवा सैनिक भी थे।

अपने यहाँ की बसों या रेल के डिब्बों जैसे-हर जगह अपना सामान ठूँसते लोग जब अपनी अपनी जगह बैठ गए तो मैंने जाना कि मेरे बाजू की सीट पर एक युवती आ जमी है अपने दो बच्चों के साथ। जाहिर है, उनने डेढ़ टिकिट लिए थे। महिला-उम्र होगी तीसेक के आसपास-बीच में बैठ गई। लड़का, उम्र छह सात के आसपास खिड़की वाली सीट में डँट गया। छुटका, चार-पाँच की उम्र का ठुनकने लगा। उसे भी पूरी सीट चाहिये थी। न मिली तो उसने भेंगा पसार दिया। रोने लगा खास अपने मधुर सुरों में। नीली आँखों, सुनहले केशों वाली मां ने (जो लाल ब्लाउज़ और चौकड़िया काला-बदामी स्कर्ट पहने थी) उसे गोद से उठाकर अपने सीने से चिपका लिया। हल्की सिसकियाँ भरते वह चुपाया। अपनी माँ के जिस कंधे से वो चिपका था वह मेरी बाई बाँह के बराबर था। उसका मुखड़ा मेरी ओर। चुप होके पिन्ने छुटके ने आसुओं धुली, भूरी बरूनियाँ फड़फड़ाते, अपनी, बड़ी-बड़ी, काली, सुंदर-निर्मल आँसुओं से निरभ हुई बादामाकार आँखें मुझे अजनबी पर डालीं, टिकाई।

पत्नी, बच्चों और उनके मनसुख शोरगुल से चार-पाँच दिनों से बिछुड़ा मैं भीतर ही भीतर उसकी ओर खिंच रहा था। उसका रोना मुझे सुकून दे रहा था। मैं उसे अपनी गोद में बिठाकर लाड़ करना चाह रहा था, लेकिन अभी मौका न था। उससे पहचान भी न हुई थी।

पहचान करने के लिए मैंने बहुत धीरे से अपना सिर घुमाकर उसे देखा – उसके फूल से स्वस्थ फूल से चेहरे को। उसने भी मुझे देख के पलकें झपकाई। पल गुजरा। इस बार अपनी आंखों में भीतर का सुख और इच्छा तैराकर मैंने उस छुटके की आंखों में आखें डाली। सुख और इच्छा दोनों को चीन्हते हुए जैसे मेरी चोरी पकड़ कर वह हँसा। जगजीत मुस्कान आई उसके आठों पे। मुस्काते-मुस्काते वह मां की गोदी से उतर गया और बड़े भाई के पांव से सटकर, खिड़की से मुँह सटा खड़ा हो गया। बस हो या रेल या हवाई जहाज बच्चे या मुझ जैसे गवैंहे अधेड़ इस उम्र में भी खिड़की से सट के बैठना चाहते हैं। प्रकृति को देखने का मोह छूटता नहीं। भागती धरती, उड़ता आसमान कितना भी देखो सदा अजूबा लगता है रोमांचित करता है।

छुटका, सूत की सफेद जमीन पे बारीक लाल धारीदार चौकड़ी की वैसी कमीज पहने था जैसी नीलू (मेरी बड़ी बेटी) पहनती थी, के. जी. वन और टू में, जब वह भोपाल के सेंट मेरी स्कूल में पढ़ती थी। इतनी ही बड़ी रही होगी।

थोड़ी देर-बाद वह बड़के के साथ उसी सीट पर जम गया। दोनों के गाल एक दूसरे के गालों से टकराते खिड़की पर जमे थे। हवाई अड्डे पे खड़े विमानों, घूमते कुत्तों आदि आदि के बारे में आपस में बतियाते वे शायद हवाई जहाज के भीतर की दुनिया को भूल चुके थे।

अचानक बूंदा-बांदी शुरू हुई और मिनिट-दो-मिनिट तपे टारमेक को भपका कर 24 डिग्री तापमान को बेकली से भरके रुक गई।

हवाई जहाज के पंखे तो कब से चल रहे थे लेकिन वह बढ़ नहीं रहा था। एयर स्विच, कितना भी एडजस्ट करो, ऊँट के मुँह जीरा ही साबित होती है उससे आने वाली हवा। वैसे भी एयरोफ्लोत का विमान कुछ सँकरा ही होता है, जगह और सीटों के लिहाज से। अब यही विमान देखने में तो इतना छोटा है पर सीटें इसमें है 681। सभी भरीं। ऊपर से सामान। वास्तव में तो यह भारतीय बस है। एयर बस।

राम-राम करके जहाज चला तो टारमेक पे आगे बढ़ने के बजाय पीछे चलने लगा। लगा, कुछ गड़बड़ है, भूल से बेक गेयर तो नहीं लग गया!

इसी बीच काले बालों वाली विमानबाला आकर वह सब बताने लगी जो हवाई जहाजों पर बताया जाता है। बेल्ट बांधने के बारे में, खतरे की चेतावनी, आक्सीजन मास्क और इमरजेंसी द्वारों के उपयोग के बारे में।

ठीक 6.45 पर विमान ने आगे बढ़ना शुरू किया, लेकिन एकदम नहीं, पहले एक कदम आगे, दो पीछे। ऐसे पचासेक कदम-फिर आगे ही आगे। गति भी बढ़ रही थी। फिर आगे-और अचानक, ऊपर-ऊपर -ऊपर ....

उड़ान के बाद छुटके महोदय की रूचि खत्म हो गई थी। बाहरी संसार में संभवतः इसलिए कि वहाँ अब बादल थे। वे घूमे। ठुनके।

ठुनकना शुरू हुआ तो माँ ने टाफियां निकाल के पकड़ाई। टाफियां खाते मगनमन श्रीमान ने हवाई जहाज का और आसपास नजर आते यात्रियों का निरीक्षण किया। इसी बीच छुटके महोदय को फिर शायद अपने बड़प्पन का और खुद के लिए अकेली-पूरी सीट की जरूरत का अहसास हुआ। बड़े के पास सरके और बकझक शुरू हुई। झगड़ा बरकाने के लिए माँ ने दो खिलौना बसें निकालीं। दो-दो इंच की होंगी, एक तोतापरी रंग की, दूसरी लाल। छोटे महाशय दोनों को ध्यान से देख रहे थे, निर्णय न कर पा रहे थे कि कौन सी लूँ। बड़ा-बड़ा था उसने निर्णय ले कर हरी तोतापरी उठा ली। फिर क्या था - छोटे को वही चाहिए थी। टंटा टालने के लिए अब की कुछ बड़ी चकलेट भेंट की गई। बड़े ने उदारता दिखाई और तोतापरी उसे दे दी। इतनी आसानी से इच्छापूर्ति होने पर संदेह स्वाभाविक है। छोटे महाशय ने माँ के स्कर्ट पर दोनों बसों को आजू-बाजू रखा। सरापा-उल्टा, उनकी लंबाई-ऊँचाई मिलान की। बरोब्बर, दोनों बरोब्बर। अखिरकार लाल ही ऊँची उन्हें, हरी वापस हो गई। थोड़ी देर हथेली में रख के निरखी सराही गई। कार का खुलने-बंद होने वाला एक द्वार आठ-दस बार खोला बंद किया गया।

मैं भी उसके इस खेल में मन ही मन (खामोशी से) शामिल था। छुटके ने मुझे भी शामिल कर लिया था अपने आप आँखों आँखों। देखा-देखी चल रही थी। आँखों-आँखों, मुस्कानों-मुस्कानों पहचानों की अदला-बदली भी।

आखिर कितनी देर खिलौना गाड़ी साथ देती। लगभग आधा घंटा हो चुका था – जनाब के पैरों में थकान भी आ रही होगी, इतनी देर हो गई थी उस संकरौंधे में खड़े, सो मां की गोद मे सवार होगए।

अब उसकी फेडेड जीन्स दिखी और पता चला कि नीले रंग का लाल किनारीवाला नायलन का वह स्ट्रेप जनाब की पतलून सही जगह रखने के लिए है। बैठे-बैठे वायुयान की छत को देखते, छुटके ने अपनी खुली हथेली यकायक झटके से मेरे सामने कर दी। दोस्ती का बढ़ा हाथ। मैंने आहिस्ता से उस अपनापे को अपनी दोनों हथेलियों के बीच दबा लिया।

पल भर बाद हाथ निकालते उसने अपना चेहरा मेरी ओर घुमाया। अबकी उसकी सफेद दंतुलियाँ साफ-साफ दिखीं और लगा-हँसी की हल्की सी मद्धम आवाज भी। छिनभर में वह हथेली फिर सामने थी। मैंने वही किया जो श्रीमान चाहते थे। हथेलियों के दबाने-छुड़ाने का यह आह्लादकारी खेल दो तीन मिनिट चला; फिर वे ऊब गए और अपनी माँ की गोद में लेटने का उपक्रम करने लगे।

दोनों की सीट के बीच का हत्था व्यवधान पैदा कर रहा था , यह देख मैंने उसे उठा दिया। अब छुटके जी आराम से लेट सकते थे। उनने वही किया। मेरी बाईं जांघ पे सिर रख अपनी माँ की गोद पे पसर कर, पांव फैला के लेट गए।

नींद, जैसी वहीं-कहीं, आसपास उड़ रही थी, उसकी बरुनियों के। पलकें झपकते ही आँखों में समा गई। पलभर भी न हुए होंगे पलकें बंद हुए कि साँस सम पर आ लगी। कितने अच्छे होते हैं ये दिन कि आप जब चाहें, छिन भर में सो जाएं।

उस वक्त शाम के आठेक बज रहे होंगे। पहली बार पड़ोसन ने मुझे और मैंने उन्हें भर नज़र देखा। माँ अपने बेटों जैसी ही सुंदर थी। सुसंकृत भी लग रही थी। भाषा का व्यवधान न होता तो बातें भी शुरु हो सकतीं थीं। बच्चे ने हम दोनों को भी परिचय के सूत्र में जोड़ दिया था।

अचानक खिड़की से धूप आई और मेरे सीने से होते बाए कंधे पर जाके बैठ गई, अपना रक्ताभ- पीला फीता फैलाए, आसमान से कंधे तक। तंद्रा टूटी। पता चला कि इतनी देर में आसपास से कटा मैं उसी बच्चे में डूबा था। हवाई जहाज का शोर भी मेरे कानों को अचानक कुछ ज्यादा ही तेज मालूम पड़ने लगा।

बच्चे को शायद करवट लेने की इच्छा हुई। मैंने महसूस किया कि उसे तीन जांघों पर लेटे तकलीफ हो रही होगी। बदन भी ठीक से सीधा न था। सीट गलियों वाली थी। मैंने उसे धीरे से अपनी ओर सरकाया उसकी मां भी शायद मेरा आशय समझ गई। उनने, उसके लटके पैर सीधे किए और मैंने उसे उठाकर अपनी गोद में लेटा लिया। वह थोड़ा कसमसाया तो मेरे हाथों ने अपने आप थपकियाँ देना शुरू कर दिया।

छह सात बरस से ऊपर हो गए थे, इतने छोटे बच्चे को गोद में लिटाकर सुलाए। मनु (मेरा छोटा बेटा) दस का हो रहा है। भीतर से जाने कैसा तो अपनाया उमड़ाया इसने कि धीरे-धीरे अपने आपमेरी हथेलियाँ उसके पाँव दबाने लगीं।

भीतर-ही भीतर डर भी समाया-लोग कहते हैं बच्चों को नजर लग जाती है। कहीं ऐसा न हो डीठ जाय। बुखार आ जाय उसे। नहीं नहीं।

ध्यान टूटा माइक से आती आवाज सुनकर- "हम 4000 फुट की ऊँचाई पर है जल्द ही त्बिलिसी आने वाला है।" खिड़कियों से कांकेशश पर्वतमाला दीख रही थी। कुछ चोटियों पर बर्फ जमी थी, बाकी पर बादे। अचानक ऐसी लगा जैसे जहाज तिरछा हुआ-दाई ओर कुछ झुका और बजाए नीचे जाने की ऊँचाई की ओर उड़ा।

आवाज आई - "त्बिलिसी में दिन का तामपान 30 डिग्री से·' है। 'याने गर्मी यहाँ भी मेरा पीछा कर रही है। ऊँघते झगोर को जगाकर मैंने कहा कुरते पजामे में घूमूँगा।

बादल घने-रूपहले-सफेद, कहीं-कहीं हल्के काले जल भरे।

उतरने से पहले मुझे बच्चे का नाम जान लेने का मन हुआ। बीस बरस पहले पढ़ी रूसी को दिमाग के भीतर दबी पर्तों से खींच कर निकालते-सोए बच्चे की ओर उंगुली दिखाते उसकी माँ से पूछा-"काक इवो जावूत ?"

"कोता"

और आपका

"इरीना"

हवाई जहाज उतर कर हवाई पट्टी पर दौड़ने लगा तो मैंने "कोता" को हिलाया-डुलाया। काहे को खुले उनकी नींद। आखिर माँ की गोद में दिया। उनने "कोता। कोता ? कह झकझोरा, नींद खुली। जँभाई लेते जनाब गोद से नीचे उतरे। मेरी ओर देखा हँसे। मैंने उसकी ओर।

इच्छा हुई कि उसे चूम लूँ, पर रह गया, पता नहीं कोई क्या समझे। इगोर जो मौन देख रहा था - क्या समझे।

दरवाजा खुलते ही हम उतर लिए।

सीढ़ियों के नीचे पहुँच तो गया था पर मन, "कोता" में रमा था। लगता था नीचे आएँ तो "टाटा" कर ली जाय आखिरी बार, सो रूका रहा। इसी बीच एक मोटे-ताजे सज्जन आके बाजू में खड़े हो सिगरेट सुलगाने लगे। मन ही मन मुझे अटपटा लगा। यहाँ तो सिगरेट पीना मना रहता है न।

अचानक वे अँगरेजी में पूछ बैठे- आप भारतीय हैं ?

"हां"

"मैं भारत घूम आया हूँ। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता। बम्बई अच्छा शहर है।" अंगूठा ऊपर करते उनने कहा। "मैं ही इस जहाज को उड़ा के लाया हूँ मास्को से यहाँ तक।

"बहुत अच्छी उड़ान रही। धन्यवाद। फिर आइए भारत। भोपाल आइए।"

उनका एक साथी आ गया। जान छूटी तो मैंने सीढ़ियों पर देखा, वहां से दूसरे उतर रहे थे। उतरने वाले बाई ओर बढ़ रहे थे- वहां बस खड़ी थी। नज़र उधर गई तो देखा, कोता अपनी मां और भाई के साथ जा रहा है।

"कोता ऽऽ कोता ऽऽ,"

"कोता ऽऽऽ" - लगा वह न सुनेगा।

"कोता ऽऽऽऽ" मैंने फिर पुकारा -

"कोता" जी अचानक मुड़े, तो मैं उनकी ओर और वे मेरी ओर दौड़े लगभग सौ कदम की दूरी हम दोनों एक दूसरे की ओर दौड़ रहे थे - .....

जैसे ही उसके पास पहुँचा, चूमने को झुका । मैं चूमूँ कि उसके पहले कोता ने ठीक रूसी अंदाज में मेरे दाएं गाल पर अपने फूल से होठ रख दिए। मैंने उसके बाएँ पर। हथेलियों में कमर से पकड़ उसे सिर से ऊपर उठाया, उसकी खिलखिलाहट गूँज गई।

जमीन पर कदम रखते ही वह अपनी माँ की ओर दौड़ गया।

उमड़ता-घुमड़ता मैं अपनी जगह बुत हो गया क्षण भर के लिए।

□

# दो कविताएँ

जगदीश गुप्त

एक

## कवि-गीत

कवि वही, जो अकथनीय कहे।
किंतु सारी मुखरता के बीच, मौन रहे।
शब्द गूँथे,
स्वयं अपने गूँथने पर -
कभी रीझे, कभी खीझे, कभी बोल सहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।
सिद्ध हो जिसको
मनोमय-मुक्ति का सौंदर्य-साधन।
भाव-झंकृति रूप जिसका,
अलंकृति जिसका प्रसाधन।
सिर्फ अपना नहीं, सबका ताप जिसे दहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।
रुष्ट हो तो, जगा दे आक्रोश नभ का,
द्रवित हो तो सृष्टि सारी साथ-साथ बहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।
शक्ति के संचार से,
या अर्थ के संभार से -
प्रबल झंझा-वात से
या घात-प्रत्याघात से -
जहाँ थकने लगे, वाणी स्वयं हाथ गहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।
शांति मन में, क्रांति का संकल्प लेकर टिकी हो।
कहीं भी गिरवीं न हो ईमान जिसका
कहीं भी प्रज्ञ न जिसकी बिकी हो।

जो निरंतर, नयी रचनाधर्मिता से रहे पूरित,
लेखनी जिसकी कलुष में डूब कर भी
विशद, उज्ज्वल कीर्तिलाभ लहे।
कवि वही जो अकथनीय कहे।

## दो

# परंपरा - बोध और मेरी रचनाधर्मिता

### एक

ढोऊँगा कहाँ तक
परंपरा
व्यर्थ का बोझ है,
दे दूँ इसे
किसी योग्य याचक को,
ऐसा सोच
देने के लिये दान
ज्यों ही बढ़ाया
दायाँ हाथ
सहसा मुझे
याचक पहचाना लगा
रोशनी में देखा,
अरे!
वह तो मेरा ही बायाँ हाथ था।

### दो

छुईमुई की भी क्या परंपरा
बाहरी प्रभाव की
अंगुलियों ने
जहाँ छुआ, वहीं मुई।
परंपरा बरगद की,
शाखा से शाखा का अनुबंधन!
तूफानों में भी जो अडिग रहे,
जिसकी जटिलता भी वंदनीय
धरती को जहाँ छुआ,
मूल हुई!

## तीन

तुमसे दूर बेतहाशा,
भागते हैं मेरे पाँव।
छोड़ते हुए पीछे
नदी-नाले, शहर-गाँव।
फिर भी जहाँ जाकर दम लेते हैं,
पाते हैं -
सर पर तुम्हारी छाँव!

□

# अंतरा और अंतराल

**वीरेंद्र मिश्र**

अंतरों की भीड़ में
ध्रुव पंक्ति खोई है कहीं तो

यह घुटन की एकता
कुण्ठा तनावों के तराने
अस्मिता का लोप होना
रोज ही
जाने अजाने
अकेलेपन की
पहाड़ी धुन सुनी तो लग रही है
अक्षरों के बीच भी
संगीत कोई है कहीं तो

आइने के सामने
अपनी जगह था चोर कोई
की स्वयं की खोज तो
पाया सफर में और कोई
आज तपता माथ कुछ शीतल हुआ तो
लग रहा है
धूप की बारादरी में
छाँव सोई है कहीं तो

बिन बुलाए आँसुओं का
यों अचानक रिमझिमाना
और घुटने मोड़कर
हर दर्द का यों बैठ जाना
आप मानें या न मानें
पर हमें ये लग रहा है
शब्द की मीरा बरस कर
खूब रोई है कहीं तो

□

# यात्रा-पथ

स्वदेश भारती

सबेरे
जब रोशनी के पंख उड़े नहीं थे
मैं चल पड़ा अपनी यात्रा पर
ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर
हरी लकड़ियों के बीच
अभिलाषाएँ रूपहली कुलाचें भर रही थीं
मेरी अस्मिता
एक कठघरे से मुक्त होकर करने लगी थी
यात्रा-संयोजन
सबेरे
जब रोशनी के पंख उड़े नहीं थे।

और जब
निकल आया सूरज लाल परिधान पहन
क्षितिज के सतरंगी आकाश में
ज्योतिर्मय हो उठा धरती का कण-कण
गूँज उठी दिशाएँ पँछियों के कल-कूज-राग में
तन गये विविध वितान-अनुस्वर
अनगिन रंग भरे अनुराग में
मैं चल रहा था अचीन्हे पथ पर
सबेरे
जब रोशनी के पंख उड़े नहीं थे।

कहीं देखा गहरी खामोशी में डूबी नीली घाटियाँ
चंचल आवेग में थिरकती नदियाँ
रजन-रश्मियों के तार बुनते

गहरी चुप्पी ओढ़े
निर्मोन पहाड़ बूढ़े
कहीं हंस बालाओं की टोली ने
अपने अमरगान से आकर्षित किया
ऊँचे देवदारू पत्रों के कानों में
ऊँचे और ऊँचे उठने का संदेश देती हवा ने
मेरी आस्था को संबल दिया।
सबेरे
जब रोशनी के पंख उड़े नहीं थे।

और इस यात्रा के बीच
जहाँ दिखे विविध रत्न
हाथ फैल गए
अंग-प्रत्यंग रस-रागभरे
सौरभ की भार से लदी डालियों ने दिये
प्रणय-प्रवास का भीगापन
पतझर ने झरते पीले पत्तों का दर्द दिया
वसंत के भरे उत्सव में छला गया
घातों प्रतिघातों को सहता
संघर्षगत
सँजोता रहा दुर्निवार यात्रा-पथ।
कहीं पथ भूला
फिर सहेज लिया
धार बना, मझधार बना
निर्जन नदी तट पर
एकांत पत्थर-सा
अतृप्त पिपासा का शापग्रस्त जीवन जिया
इस सबके बीच मैंने देखा
किस तरह तेजी से
मौसम बदलते रहे
हवा बदलती रही अपनी गति
दिशाएँ ओढ़ती रहीं धुंध और कुहासा
इस सबके बीच
उन्हें भी देखा -
जीभ पर सेवा शब्द लिए, कान ढके बहरापन
जिस्म पर समष्टि की सफेदी और
हाथ में खाली आकाश का रूपहलापन

उजाले के लिए चीत्कार करते
चलते कभी दाएँ
कभी बाँए, कभी समानांतर
अंधेरे में
करते कायापलट लोभ का संवरण
भागते सरपट रचाते राजनीति के स्वयंवर
आग कहाँ ? कितनी ? किस जगह ?
पानी कहाँ ? कितना ? किस जगह ?
यह मैंने तब जाना
जब बहुत करीब से अपने को पहचाना
और उन्हें भी
जो स्वार्थ का ताना बाना बुनते
छद्मवेषी छल-छंदों से
नये नीति-फंदों से
सेवा-व्रती का लबादा पहन। नित नये
रूप बदलते
अंधेरे जंगल और पागल हवा के बीच
सुनाई देता पागल अट्टहास
काँपती दिशाएँ थर-थर
सब तरफ से हिंस्त्र-वन-जंतुओं की भीड़
आक्रमण करती निरंतर
और में जिजीविषा के अंधेरे पथ पर
अस्तित्व की नयी चक्रब्यूह रचना में
समय के रथ के पीछे भाग रहा हूँ
जीवन-महासमुद्र तट पर
जन-अरण्य-कोलाहल के बीच ....

इस यात्रा में
यदि विजय की पताका नहीं भी फहराई
तो दुश्चिंता नहीं
लेकिन तब मेरी हार
उनकी भी पराजय बनेगी
जे गंतव्य की दूरी तय करने में संघर्षरत हैं
यूं तो मजबूरी में किया गया आपद्धर्म है। और
आपद् धर्म स्वीकारना निर्वीय-कर्म है।
मैं यह भी मानता हूँ
कि तूफान एक छोटी-सी लहर के

सीने में अपनी तेज धार
चुभा सकता है
लेकिन समुद्र का सीना
विराट होता है
इतना अनुमानता हूँ
कि मेरी हार के भग्नावशेष की राख में
एक चिनगारी भी छुपी होगी
जो एक न एक दिन
तूफान की आग बन
दिशाओं को नयी रोशनी देगी
आशाओं के जहाज पर
नव अस्तित्व का झंडा फहरेगा
नये प्रभात की रोशनी का वितान तनेगा
दिशाएँ नये उल्लास और मंगल ध्वनि से भर जायेंगी
हाँ मैं जहाज हूँ
समुद्र हूँ
रोशनी हूँ
नव-आभासित
मैं अपने पथ पर बढ़ रहा हूँ
मेरी यात्रा इसीलिए शुरू हुई थी
बहुत सबेरे
जब रोशनी के पंख उड़े नहीं थे
और अब दोपहरी में करना है
इक्कीसवीं यात्रा की तैयारी।

□

दो कविताएँ

हेमंत शेष

# जुलाई में मल्लाह

## एक

समुद्र खदक रहे हैं
किसी देगची में
वे जहाज़ अब तक नहीं लौटे
जिनपर
सवार ये वज्र जैसी बाँहों वाले मल्लाह
जिनके भीतर
एक बच्चे की
किलकारियाँ थीं
एक पत्नी की फर्माइशें
एक दोस्त की शुभकामनाएँ
एक पिता के आशीर्वाद
समुद्रों के झाग बदल देते हैं दिनमान
और जुलाई के आकाश में पुती रहती है
अक्सर तूफ़ान की आशंका
जिसे
दुनिया की तमाम वस्तुओं के उपसंहार तक
पहुँचना है एक दिन
मल्लाह जानते हैं
अदृश्य में सूत कातते हुए
बहुत सी तकलियां
लोगों के पेट में घूमती हैं
हर मनुष्य को
छोड़ देना होता है बिस्तर
और समेट कर अपने जाल असबाब
निकलना पड़ता है

समुद्र में
टूटी हुई नाव पर सवार
कभी कभी महीनों बाद
उन्हें दिखलाई देती है अवाबीलें
बरसों बाद
पेड़
दशाब्दियों बाद
शहर के संकेत
सदियों बाद
उस स्वर्ग की दिव्य रोशनियां
जो घर की खिड़की पर
आकाशदीप की शक्ल में जलती हैं
बंदरगाहों में
जब छटपटा रही होगी नौकाएँ
मरती हुई मछलियों की तरह
और सागर से
उफन कर बाहर आ रहा होगा नमक
मल्लाहों की स्मृति में
चमकने लगेंगे किलकारियाँ फर्माइशें
शुभकामनाओं और आशीर्वाद के अक्स
पेड़ों के तने
केंचुले उतारने लगेंगे
घड़ियों में
लौट रहा होगा
कच्ची शराब की गंध का वक्त
कविता में
पैदल चलते जहाज़ और पेड़
एक दिन जरूर उसी एक
घर की नींव तक
जा पहुँचेंगे
जो गेहूं, सूत और मल्लाहों के वापस आने की
आत्मीय प्रतीक्षा पर टिकी है।

□

दो

# मैं मिलूँगा तुम से

इसी जन्म में
मैं तुम से
मिलूँगा किसी दिन
डाक में जैसे मिलती है चिट्ठी
हाथों से मिलते हैं दस्ताने
डायरी में मिल जाता है
कोई पुराना पता
सड़क पर मिले किसी नोट
और भूलने के बहुत दिन बाद
अचानक याद आए एक
फ़ोन नंबर की तरह
मैं तुमसे मिलूँगा
पढ़ कर पहले दिन स्कूल से घर
लौटे बच्चे की तरह
सुखांत नाटकों के उपसंहार पर
जैसे मिलते हैं बिछुड़े हुए लोग
मुझे भरोसा है
कभी न कभी
परिचित किसी हस्तलेख किसी स्वाद
किसी सुगंध किसी ध्वनि किसी अर्थ
की तरह अचानक किसी दिन
मैं तुम से मिलूँगा।

□

# तीन कविताएँ
## सुधा चौहान

### एक

पुरानी चिट्ठियाँ
ढेरों कागज़
कुछ लिखे कुछ अनलिखे
रखे थे सहेजकर
बहुत दिन बीते
कागज़ पीले पड़े
धूल जमी चिट्ठी पर
जाड़े की धूप में
सोचा बाहर बैठकर
इन्हें साफ़ करूँ.
जो व्यर्थ ही रखा हो
उठाकर फेंकूँ
अतीत के मोह को
जाले सा झाड़ दूँ
जिन हाथों का लिखा देख
मन में
उत्सुक आकांक्षा धड़क उठती थी
उन चिट्ठियों को पोंछा
जी नहीं माना
खोलकर पढ़ने लगी
घलुए में दर्द पा
सोये अतीत को
फिर से गढ़ने लगी
जो लिखा था
उससे कहीं ज्यादा
जाने क्या-क्या पढ़ा

बीता हुआ समय फिर से
मेरी छाती में धड़कने लगा
मन में जो कुछ दबा था
छिपा था
वो हल्का सा स्पर्श पा
फिर से फड़कने लगा

शाम घिर आयी थी
चिट्ठियों को सहेजा
सब कागज़ों को समेटा
खाली लिफाफे
जिन पर लिखा था उन हाथों ने
जो अब कभी न लिखेंगे
उनको सँभाल कर रखा
एक-एक टुकड़ा
उन पीले पुराने कागजों का
जरूरी लगा
सबको फिर से जतन से
सहेज बाँधा
अब फिर कभी
जब मन पर धूल की परत जमेगी
सफाई कर लूँगी पुराने कागजों की

## दो

ठीक से उठी
ठीक बैठी
जो भी सही राह थी
उसी पर चली
दाँयें देखा न बाँयें
ठोकर कभी न खायी
सीधी राह देख सामने बढ़ती रही
धरती की सोंधी महक
और फूलों की खुशबू
लेने को रुकी नहीं
चिड़ियों का गाना

हवा का सरसराना
कानों में पड़ता रहा
ठिठककर सुना नहीं
नदी का संगीत
रोक नहीं पाया मुझे
खड़ी होकर आंखें मूँद
भीगूँ बरसात में
ये इच्छा भी जगी और सो गयी
ये भी क्या जीवन था।

## तीन

मेरे सामने आम का पेड़ खड़ा है
मंजरी से लदा हुआ
लेकिन मंजरी पर गूँजते
गुनगुन करते भौंरे कहाँ हैं
जो कभी मंजरी की मदनगंध से खिंच
उस पर ही मँड़राया करते थे
सुना था कभी
सुंदरियों के मंजरी-कुंडल पर
बौराये भौंरे
लोभी से पास गुनगुनाया करते थे
वो भौंरे अब कहां हैं

अब भी बरसात घनी होती है
रातें अंधियारी
काजल काली होती हैं
पर अब उन काली रातों में
टिमटिम टिमकते
जुगनू कहाँ गये
जो काली रात में सितारे टाँक देते थे
वनस्पति का विस्तार
पेड़ों का आकार
आँक देते थे
बच्चों के मन में
कितना कुतूहल कितना उल्लास

जगा देते थे
जुगनू पकड़कर वो
अनंत क्रीड़ाओं का जादूमहल
खड़ा कर लेते थे
अब वो जुगनू कहाँ हैं

मैं महानगर में नहीं
एक मझोले शहर में रहती हूँ
महानगर में क्या होगा नहीं जानती
लेकिन यहाँ
मेरी इस नगरी में
अब भी खपरैल के घर दिख जाते हैं
खुले मैदान भी मिल जाते हैं
छोटी बगिया हरे-भरे पेड़
लहलहाते हैं

लेकिन बचपन का वो भौंरा
वो जुगनू
वो दाना लेजाती चीटियों की लंबी कतार
वो उड़ते बगुलों की सफेद पाँत
ये सब अब कहाँ चले गये
मेरे बचपन से लेकर अब तक
दुनिया बहुत आगे बढ़ी है
नन्हें दुधमुहे बच्चे
अपने से भारी बस्ता लादे
लुढ़कते से पढ़ने जाते हैं
वहाँ पता नहीं कितना
ज्ञान और विज्ञान का प्रसाद पाते हैं
लेकिन अब वो बच्चे
चाँदनी रात में पेड़ तले
'बोल मेरी मछली कितना पानी'
का खेल नहीं खेलते
सड़क किनारे, आँगन में
छोटी सी भी खुली जगह में
आड़े-टेढ़े खाने खीच
लंगड़ी टाँग से कूदने का खेल

अब वो क्यों नहीं खेलते
मेरी आंखें सड़क किनारे
जाने-पहचाने घरों के आँगन में
उन खड़िया खिंचे घेरों को
खोजती रहती हैं
पर अब वो मिलते कहाँ हैं
बच्चों के नन्हें-नन्हें चेहरों से
वो गाय के कच्चे दूध सा
तरल भोलापन
कहाँ भागकर छिप गया

वो तन्मय होकर फुरसत से
गुट्टों को ऊँचे फेंककर लोकना
इमली के चियों को बीनना-बटोरना
वो सब कहाँ चला गया
मैं चारों तरफ
इन सबको खोजती रहती हूँ
पर पाती नहीं
लगता है चलते-चलते
भटककर
एक बिराने देश में पहुँच गयी हूँ

□

# मेरे पाठक

डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव

मेरे पाठकों ने मुझपर बड़ा उपकार किया है। उनपर कुछ न लिखना अन्याय होगा। इधर कुछ वर्षों से पाठकगण पुस्तकों की आलमारी के पास से हटकर अब दूरदर्शन के बक्से के सामने जा बैठे हैं। फिर भी हमपर उनका उपकार है।

पाठकों की कई श्रेणियाँ हैं; पढ़ाकू, लड़ाकू, सड़ाकू, फड़ाकू, हाँकू और डाकू। गहराई से विचार करें तो संभव है कि कुछ वर्ग और निकल आयें। जो किसी भी विषय पर गहराई से विचार करने का अब जमाना कहाँ रहा। हर आदमी हवागाड़ी बन गया है।

अथ पढ़ाकू। ऐसे पाठक किताबी कीड़े कहलाते हैं। ये लोग पुस्तक, पत्र-पत्रिका, इश्तहार आदि का एक-एक पन्ना चाट डालते हैं। वे हमेशा इस टोह में रहते हैं कि उनके प्रिय लेखक की कोई रचना प्रकाशित हो और उन्हें चाटने का मौका मिले। उन्हें इस संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। लोग जैसे रोज-रोज भोजन करते हैं वैसे ही यह रोज पढ़ते हैं। जिस दिन कुछ न पढ़े तो किसी काम में मन ही न लगे। पुस्तक न मिले तो देवीजागरण का कोई कार्ड पढ़ लें, किसी बीड़ी का इश्तहार पढ़ लें अथवा बाजार से लाए ठोंगे को ही फाड़कर पढ़ लें। ऐसे पाठक खाने के पहले पढ़ते हैं, खाने के बाद पढ़ते हैं और सोने से पहले पढ़कर ही आँखों को मूँदते हैं। घर में आग लगी हो तब भी पढ़ते हैं, बाढ़ मे मुहल्ला डूब रहा हो तब भी पढ़ते हैं। बड़े-बड़े हादसे हो जाते हैं फिर भी वे पढ़ने में जुटे रहते हैं। जिन लेखकों को ऐसे पाठक मिल जाते हैं वे बहुत बड़े भाग्यशाली हैं। किताबों का छपना इन्हीं पाठकों के कारण सार्थक है। मरते दम तक ये पढ़ाकू पाठक हाथ से किताब नहीं छोड़ते।

इस वर्ग का एक पाठक टिकट के लिए प्लेटफार्म पर गाड़ी की प्रतीक्षा में बैठा कोई उपन्यास पढ़ रहा था पढ़ने में इतना तल्लीन था। कि गाड़ी का आना और जाना तक उसे मालूम नहीं हो सका। बगल में घूमकर देखता है कि उसकी अटैची गायब थी।

एक दूसरे पाठक ने अपनी दशा मुझे लिख भेजी थी कि पिछले कुछ दिनों से उन्हें मेरी लिखी किताबें पसंद आने लगी हैं, जैसे बाजार में खोए की मिठाई महँगी हो जाने पर लोगों को जलेबी पसंद आने लगती है। वे एक दिन सिर गड़ाए पढ़ने में लीन थे कि उनकी श्रीमती जी क्रोध में उफनती आईं और झपट्टा मार कर किताब छीन नाबदान में डाल दी और बोली - खबरदार। इसे अब छूना मत। यह मेरी सौत है। इसे मुझसे दूर रखो। मेरा पढ़ाकू पाठक बोला - प्रिये। तुम्हें दूर कर सकता

हूँ लेकिन किताब से दूर नही रह सकता । अंत में रूठकर वह मैके चली गई और मेरा पाठक आजकल अपने हाथों खाना बना रहा है । मुझसे अपनी समस्या का समाधान पूछा है । मैंने उन्हें उत्तर लिख भेजा - मैं लेखक जरूर हूँ किंतु समस्या का समाधान बताने में मैं उसी तरह कतराता हूँ जिस तरह मंदिर के दर्शकों की भीड़ में कोई नए जूतेवाला पाँवों से जूते निकालने में कतराता है ।

दूसरा वर्ग लड़ाकू पाठकों का है । वे लड़ते हैं, लाठी-डंडे, छुरा-चाकू या तलवार-बंदूक से नहीं, जबान से । यह साहित्य का वाचिक युद्ध है । ऐसी साहित्यिक लड़ाई ज्यादातर पान या लौंग-इलायची खाकर लड़ी जाती है । मीठी-सुरीली ध्वनि में ऐसी कटु बातें कह दी जाती हैं कि रचनाकार को अपनी छठी का दूध याद आ जाता है । ऐसे पाठकों में आलोचक-समीक्षक आते हैं । समीक्षा की ढाल से वे आपसी वैमनस्य की लड़ाइयाँ लड़ते हैं । एक बार बरसात के दिन में मेरे बेटे ने मुहल्ले के समीक्षक के बेटे को अपनी छतरी नही दी । समीक्षक के बेटे ने जाकर अपने बाप से शिकायत दर्ज करा दी । तब तो वे केवल हँसकर रह गए । दो महीने बाद मेरी एक किताब की समीक्षा लिखने का उन्हें मौका हाथ लगा । समीक्षा में उन्होंने मेरी अनुदारवादी चेतना और असहिष्णु दायित्व का मूल उद्गम मेरे पैतृक संस्कारों में खोजकर मेरी भावी पीढ़ी के प्रति आशंका व्यक्त कर दी । रचनाकारों के संसार में ऐसे समीक्षक बुलडोज़र लिए घूमते हैं ।

कुछ पाठक अपने प्रिय कवि-लेखक के लिए लड़-कट जाते हैं । पुरानी घटना है । प्रसाद जी की काव्यरचना "आँसू" को पढ़-पढ़कर एक सज्जन खिड़की पर बैठे रो रहे थे । गली से गुज़रता हुआ एक युवक उनके आँसू देख हँस पड़ा और फिर दोनों में घमासान हो गया ।

ऐसे पाठक भी कम नहीं हैं जो पूरी श्रद्धा-भक्ति के साथ आग्रह करके आपसे कोई पुस्तक ले जाएंगे । पढ़ना न पढ़ना उनके लिए ज्यादा महत्व नहीं रखता । पुस्तक दो दिनों के लिए माँगी जाती है और दसों बार याद दिलाने पर तीन महीने बाद लौटायी जाती है । एक बार अपनी लौटी किताब की दशा देख मैं हैरत में पड़ गया । किताब की शक्ल-सूरत बिगड़ गई थी । ज़िल्द फट गई थी और सिलाई के धागे पन्नों से बिछुड़ गए थे । राम जाने, मेरे पाठक ने पुस्तक को कहाँ रखकर सड़ा डाला । अचार भी गलाया जाता है तो किसी बर्तन-जार में । यह पुस्तक न मालूम किस बर्तन में पड़ी रही । पूछने पर पता चला कि वे पुस्तक को अपने पास ही सिरहाने तकिए के नीचे रखते थे । जिस दिन मूड बनता था वे उसे पढ़ लेते थे । वैसे पढ़ने का अवसर उनकी पत्नी और बच्चों के कारण दुर्लभ था । उस पुस्तक पर कुछ दिनों उनके बेटे ने अपनी स्याही की दवात रखी थी, कई बार उनकी पत्नी ने पानी वाले जग को उसी पुस्तक से ढँका था । आने वाले मेहमानों ने बिजली गुल हो जाने पर उसी पुस्तक से पंखे का काम लिया था । चमकती जिल्द ने उनकी पुत्री की दसों अंगुलियों को इस कदर मोहित कर लिया था कि उसे अपने अस्तित्व से हाथ धोना पड़ा था ।

मुझे क्या पता था कि मेरी पुस्तक की जन्मकुंडली में मेरा ही पाठक राहु बनकर बैठा है । पहली बार जब उसने मेरे लेखन के प्रति विनय-श्रद्धा दिखाकर मेरी प्रशंसा की थी तब मैं इतना गदगद हो उठा था कि जी में लहर मचली कि इस आदमी को अपना सबकुछ उठाकर दे दूँ । मैं भले ही मिट जाऊँ लेकिन मेरा यह श्रद्धालु पाठक मेरी सारी रचनाएँ तो पढ़ ले, कितना अतृप्त जीव है बेचारा लेखक ।

ऐसे ही पाठक पढ़ते कम हैं और पुस्तकें सड़ाते ज्यादा हैं । एक पाठक के यहाँ ढाई साल बाद मेरी खोयी पुस्तक उनकी बेटी की गुड़िया वाले बक्से में क्षत-विक्षत अवस्था में मिली ।

पुस्तक नहीं मिलती यदि उसका एक पन्ना घर के पिछवाड़े में कूड़े में नहीं दिखाई पड़ता। पुस्तक का सुराग उस कूड़ेदान से मिला।

सुना है, किताबों के सड़ने के मौके बड़े प्रोफसरों के यहाँ ज्यादा मिलते हैं। प्रोफेसर लोग बडी-बड़ी थीसिसों तक को सड़ा डालते हैं। सड़ी-गली चीजें अंत में कबाड़ी की तराजू पर चली जाती हैं। सरकारी खरीदवाले पुस्तकालय और दफ्तर की अलमारियाँ पुस्तकें सड़ाने में अब माहिर मानी जाती हैं फलों का रस सड़कर महँगा सिरका बन जाता है। उसी प्रकार जो किताब लाइब्रेरी के रैकों में सड़ जाती है वह ज्यादा मूल्यवान और दुर्लभ साहित्य की कोटि में आ जाती है। यह रहस्य विलुप्त साहित्य के पाठक जानते हैं।

पढ़ाकू किस्म के पाठकों से भगवान बचाए। ऐसे पाठकों की लीलाभूमि पुस्तकालय का कोई एकांत कोना या किसी आलमारी का पिछला भाग है। ऐसे लोग तीन सौ पृष्ठों की पूरी पुस्तक को पढने की जहमत से राहत पाने के लिए कुछ जरूरी चैप्टर के दस-बीस पन्ने फाड़कर अपने जेब के हवाले करते हैं। उनकी इस भूतलीला को बड़े-बड़े चतुर पुस्तकालय अधिकारी भी नहीं देख पाते। पढ़ाकू पाठक केवल काम की चीजें पढ़ते हैं। सुंदर फोटो, मानचित्र आदि भी उनकी निगाह से बच नहीं पाते। ऐसे पाठकों की बुद्धि से ज्यादा तेज़ तर्रार उनकी जेब की ब्लेड होती है।

जो फाडने की हिम्मत नहीं जुटा पाते वे कलम-पेंसिल से लाइनें खींच देते हैं। किन्हीं शब्दों, अनुच्छेदों को कोष्टकों में डाल देते हैं अथवा अपने मौलिक विचारों को हाशिए पर दूसरे पाठकों के कल्याणार्थ अंकित कर डालते हैं। जो पाठक चित्रकला में कुछ दखल रखते हैं वे चित्र बनाकर अपनी रुचि की मुहर लगा देते हैं। हिंदुस्तान के अनेक पुस्तकालयों की असंख्य पुस्तकें ऐसे पाठकों द्वारा अपनी किस्मत पर आँसू बहा रही हैं।

मुझे पता नहीं कि मशहूर कवियों-लेखकों की किताबों के कितने पन्ने फटते हैं। लेकिन ऐसे पाठकों ने प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं का बड़ा कल्याण किया है। पन्ने फटते ही कुछ पुस्तकें बेकार हो जाती हैं। उनकी जगह नई प्रतियाँ आ जाती हैं। प्रकाशकों को ऐसे पढ़ाकू पाठकों का एक प्रशिक्षण कोर्स ही चला देना चाहिए।

हाँकू पाठक स्वयं चाहे जैसे हों परंतु अपने लेखकों को कुछ देर के लिए चकमा में डाल देते हैं। ये पढ़ते कम हाँकते ज्यादा हैं। कहीं से एक पंक्ति देख ली और ले उड़े। उस पंक्ति की व्याख्या करके इतनी तारीफ के पुल बाँधेंगे कि रचनाकार गुब्बारे की तरह फूल उठेगा। हम लेखकों का अक्सर ऐसे पाठकों से सामना होता ही रहता है। ये लोग ऐसा इम्प्रेशन देते हैं जैसे पूरी किताब पढ़कर बोल रहे हैं। बाद में पता लगेगा कि उनकी सारी प्रतिक्रिया एक-आध पन्नों पर ही आधारित है। मिलते ही तपाक से बोलेंगे - अहोभाग्य, जो आपके दर्शन हुए। मैं तो स्वयं आकर आपको बधाई देने वाला था। खूब लिखा है आपने। मैं अभिभूत हूँ। इतने साहित्यकारों को मैंने पढ़ा लेकिन साहब आपका क्या कहना। भावों की वह छटा, सूक्तियों का ऐसा अनूठा प्रयोग, भाषा की ऐसी रवानगी, अछूते बिंबों का सौंदर्य सचमुच आज के रचनाकारों में दुलर्भ है। सर, आप कैसे इतना सुंदर लिख लेते हैं।

प्रशंसा किसी भी साहित्यकार पर संजीवनी का असर डालती है। कवि का मुरझाया मन खिल उठता है, जी चाहता है, यही प्रसंग चलता रहे। दूसरा विषय न छिड़े। उसके भीतर से मूसलाधार वर्षा की तरह आशीर्वादों की बौछारें छिटकने लगती हैं - जिओ मेरे पाठक, तुम युग-युग जिओ। तुमने ही तो मुझे समझा है। इतनी पुरानी पत्नी हुई, बाल बच्चे सयाने हुए, दोस्तों की इतनी

बड़ी जमात बनी किंतु आजतक किसी ने भी मेरा महत्व नहीं समझा जो तुमने मेरी एक कृति पढ़कर समझ लिया। एक पुस्तक पढ़कर तुमने मेरी अंतरात्मा के रस का साक्षात्कार कर लिया। हांड़ी के चावल का एक ही दाना देखा जाता है बंधु। मेरी और भी किताबें पढ़ो। आकर ले जाओ मेरे घर से समय न मिले तो कहो मैं ही तुम्हारे घर पहुँच जाऊँ। अरे हाँ, भगवान कभी-कभी अपने भक्तों के घर जाते हैं। इसमें धरा क्या है।

कवि का हृदय हाँकू पाठकों या श्रोताओं को पाकर धन्य-धन्य हो उठता है लेकिन यह भी सच है कि रचनाकार होना हमेशा समझदार होने का सबूत नहीं है। एक से बढ़कर एक रचनाकार अपने व्यावहारिक जीवन में महामूर्ख के आसन पर बैठें होते हैं।

मैंने भी कई बार मूर्खताएँ की हैं। बाज़ार में मेरे एक पाठक मिल गए। वहीं सब्जी की दुकान पर मेरी दो रचनाओं की तुलना करने लगे। मैं उन्हें घर बुला लाया। मन कह रहा था – मेरे पाठक लो यह खाओ देशी घी का हलुवा और लगे हाथ यह भी देख लो कि मैं व्यवहार में भी कितना विनम्र हूं। फिर न कहना कि केवल अपनी रचनाओं में ही एक विनयशील व्यक्ति हूँ, नहीं मैं अपने निजी जीवन में भी इन्हीं सिद्धांतों का पालन करता हूँ। वे साहित्कार और हैं जो अपनी रचनाओं में नारी-जीवन की करूण स्थिति पर आँसू बहाते हैं और घर में अपनी बीबी को पीटते हैं। बेर जैसा विषम व्यक्तित्व मेरा नहीं है।

मेरा पाठक मुस्कराता हुआ मुझे सुनाता रहा, भरपेट हलुआ खाया और झोला भरकर किताबें ले गया। आज चार साल हो गए। न तो उसकी कोई प्रतिक्रिया आई और न कोई किताब लौटी। मैंने अपना घर फूँककर तमाशा देखा है।

साहित्य के संसार में डकैतियाँ भी होती हैं। इस कला में पाठक और लेखक दोनों कुशल हैं। दूसरे से मांगी किताब को पाठक कुछ दिनों में अपनी किताब कहने लगता है। लेखक-कवि दूसरों के भावों, उपमाओं की चोरी करते हैं। आज आपके जो मौलिक विचार हैं वे कल छपकर दूसरे के विचार बन जाएँगे। लेखन-जगत में ऐसी डकैतियों से बचने के लिए लेखक को साहसी और जोखिम उठाने वाला बनना पड़ता है। अपने आसपास अपने चहेतों का एक गिरोह रखना पड़ता है जो हर सफेद-स्याह पर वह आपका ही पक्ष लेता रहे।

किंतु सच्चाई यह है कि रचना की दुनिया में हर रंग के पाठकों का महत्व है। मूढ़ पाठकों से ही कवि का व्यक्त्वि महान बनता है। क्योंकि मूर्खों के बैंक में श्रद्धा का बैलेंस अपार होता है, ऐसे पाठक किताबें चाहे जैसे रखें या पढ़ें, पन्ने-पन्ने चाट जाएँ या पन्नों पर नमक-मूँगफली रखकर खा जाएँ। पुस्तकें उनके कारण ही सार्थक हैं। पुस्तक प्रिया के सुहाग हैं पाठक। वे चाहे जैसे हों हम लेखकों को उनकी आवश्यकता हमेशा रहेगी। लेखक, प्रकाशक और विक्रेता सभी का लक्ष्य पाठक ही है। अतः लेखकों से मेरी गुज़ारिश है कि वे ऐसा लिखें कि पाठक उनके आगे-पीछे दौड़ें जैसे गुब्बारों के पीछे बालक दौड़ते हैं।

□

# जगदीश चतुर्वेदी : रचनात्मकता के तेवर और बदलते संदर्भ

डॉ. अश्विनी पाराशर

समकालीन हिंदी कवियों में जगदीश चतुर्वेदी चर्चित और विवादास्पद रहे हैं। इसका मुख्य कारण था, अकविता का एक आक्रोश युक्त काव्याभिव्यक्ति के रूप में उभरना। जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संपादित प्रारंभ (1963) एक शुरूआत थी नये सोच के विकास और काव्य में अभिव्यक्ति के तेवर में आक्रोश और यथार्थ की प्रस्तुति की। राजकमल चौधरी, रमेश गौड़, श्याम परमार, कैलाश वाजपेई, सौमित्र मोहन, देवताले आदि जगदीश चतुर्वेदी के सहयोगी रचनाकार अपने इसी तेवर के साथ पहचाने भी गए। स्वयं जगदीश कविता को घोर वैयक्तिक रचना प्रक्रिया मानते हुए इसके लिए किसी भी बाहरी दबाव, चाटुकारिता या प्रतिबद्धता को अस्वीकार करते हैं क्योंकि इन घेरों में बँधी कविता गुट परस्ती के कारण प्रसारित भले ही हो जाए, अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाएगी। दरअसल कविता तो आत्म साक्षात्कार का वह माध्यम है जिससे पाठक अपने बाहर और भीतर झांकता हुआ 'सही' का आकलन स्वयं कर सके। शायद यह जरूरी भी था इसीलिए जगदीश चतुर्वेदी की कविता से जिस अस्वीकृति या निषेध की गंध आती है, समकालीन समाज में जड़ता की स्थिति से जूझने का उपक्रम लगती है।

समय-समय पर जगदीश चतुर्वेदी और उनके द्वारा संपादित अकविता के विशेषांक को लेकर अनेक प्रकार के वक्तव्य प्रकाश में आए। अकविता को विदेशों में पनपी बीटनिकों और एंग्रीयंग मैन की कविता हरकतों के नाभिनाल से जुड़ा कहा गया, प्रगतिशील प्रतिबद्धता से काटकर बर्बर प्रतिक्रियावादी प्रयास कहा गया, लेकिन समाज, देश और साहित्य के धरातल पर अकविता की सही पड़ताल ईमानदारी से करने के खतरे उठाने का जोखिम बहुत कम लोग ही ले पाए। अकविता में घोर निराशा, क्षोभ, आत्मश्लाघा, सैक्स-जन्य प्रतीकों का प्रयोग, दुरभिमान, बीमार उत्तेजना, नासमझी, घटियापन और गैर जिम्मेदारी व खोखली चुनौती जैसे फतवों के रूप में शब्द उछालकर एक खास समय की खास चेतन प्रक्रिया को यों नजरंदाज नहीं किया जा सकता और न ही उसे हाशिए पर रखा जा सकता है - बल्कि इसकी पड़ताल के लिए पूरा काव्य परिदृश्य समझना जरूरी होगा।

जिस समय (1960 के पास) अकविता की जरूरत महसूस की गई यदि उसका जायजा लें तो साफ हो जाता है कि हमारे देश में आजादी से पहले राजनीति एक शक्तिशाली कुर्सी के आतंक के खिलाफ उठने वाली आवाज का नाम था, अपने हक के लिए लड़ने और भिड़ने का नाम राजनीति था जिसे हमारे बुजुर्गों ने कभी असहयोग के द्वारा कभी भीड़ में शरीक होकर आवाज बुलंद करके, कभी लाठियां खाकर, कभी जेल जाकर जिया, कह सकते हैं एक घुन का नाम था

राजनीति। लेकिन आजादी के बाद सिर्फ घुन और घुसपैठ का नाम 'राजनीति' हो गया। समूह का हित, भीड़ की वांछा एकदम गायब हो गई और केवल व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पूरी करने का साधन बन गई। विदशी चमक दमक ने और कुछ किया हो या न किया हो, आदमी को बिकाऊ बना दिया ।

देश, व्यवस्था, दायित्व, सेवा सारे शब्द खोखले से साबित होने लगे। मौका, शक्ति, सत्ता, मस्ती, आपसी रंजिश, उठापटक, खरीद फरोख्त जैसे नये शब्द उछलने लगे।

यह वह माहौल था जिसके आते-आते व्यवस्था और आदमी दो अलग-अलग सिरे पर आ गए और कर्तव्य या दायित्व का सेतु-अहमन्यता, अहंकार, शक्संपन्न दृष्टि और सत्ता के स्थायी बने रहने के प्रति असुरक्षा का भाव या सत्ता च्युत हो जाने का भय जैसे भयावह जंगी तूफानों की लपेट में ढह गया। सिर्फ जोड़-तोड़, घुसपैठ, उठा-पटक और छल-छद्‌म की सत्ता कायम रखने का एक मात्र आधार माना जाने लगा। तटस्थ बुद्धिजीवी जो खुद भी कहीं इसमें शामिल भी था और अलग भी इस षड्यंत्र को खुली नजर से देख रहा था। वह देख रहा था करवटें बदलती मानसिकता को।

अकविता विनाश की इसी अविराम प्रक्रिया की देन थी। जिसे तत्कालीन कवि ने इसकी विभीषिका से संत्रस्त मानव की भयावह तथा कँपा देने वाली स्थिति को अपने संवेदनशील मस्तिष्क में अनुभव किया और गंभीरता से यह विचार किया कि आखिर क्यों राजनैतिक उहा-पोह से पिसता हुआ आदमी एक प्रकार की मूल्यहीनता के वात्याचक्र में फँसता जा रहा है और बेचारा बन कर रह गया है। आदमी परंपरागत व्यामोह से निकल कर अधिक क्रूर और निर्मम हो गया है। कविता भी उसी अनुपात में बेलौश होती चली गई। इस सीमा को ध्यान में रखते हुए यदि विचार करें और जगदीश चतुर्वेदी के कवि क्रम का विश्लेषण-विवेचन करें तो हम पायेंगे कि वह अपने आप में जितना जटिल कवि है, उसकी कविता भी पाठक से उसी स्तर पर तवज्जह चाहती है। तमाम देश के निर्वीय प्रकंपन में हलचल मचा दने वाली कवि दृष्टि केवल सरसरी नजर से देखकर जांघ और जांघ के भूगोल के फतबे के रूप में हिकारत से देखने की चीज नहीं, बल्कि शिद्‌दत से समझने की जरूरत की माँग करती है।

इतिहासहंता (1970) जगदीश चतुर्वेदी का पहला स्वतंत्र कविता संग्रह है। 1980 में डूबते इतिहास का गवाह प्रकाशित हुआ। तथा 1988 में सद्यः प्रकाशित कविता संग्रह 'नए मसीहा का जन्म'। पिछले तीन दशक तक फैली इन कविताओं में इतिहासहंता की पहली कविता उद्‌गीर्ण यदि देखें तो उसमें कवि का सरोकार, सामाजिक प्रतिबद्धता और रचना क्रम का जायजा मिल जायेगा।

> *"आम आदमी उसका सम्बन्ध गल्ले की दुकान से जोड़ता है /वह बोरियत से/बोरियत बहुत छोटी उम्र में उसके तलुओं से आकर चिपक गई/ज्यों ज्यों उससे हटाना चाहा वह जोंक की तरह सटती गई/ ***उसने तमाम जगह बेतहाशा दौड़कर इस जोंक को छुड़ाना चाहा ** उसे लगा जोंक आकर्षण का दूसरा नाम है/और जितने भी आकर्षण उसने जाने हैं/सब जंगली मकड़ियों के जाले हैं/और उनसे बचना निहायत जरूरी है।*
>
> (इतिहासहंता - पृष्ठ 9-10)

यानी कवि सीधे शब्दों में आकर्षण को जोंक की संज्ञा देकर इन मकड़ियों के जालों से बचना निहायत जरूरी मानता है। वह इनसे भाग कर जिस सुरंग में पहुँचता है वहाँ उसे दीमक मिलती है। वह सुरंग छोड़कर भी भाग खड़ा होता है। वह महसूस करता है कि इस भागदौड़ में आदमी का भेजा उससे अलग छिटक गया है। वह जानते हुए भी उसे वापिस लेने नहीं रूका क्योंकि इस घटिया शहर में बुद्धि का क्या काम ? *वह बना रहेगा औघड़, आलसी और मर्तबान,* इन पंक्तियों की व्याख्या की आवश्यकता नही है। जिसमें आदमी निरूद्देश्य घूमकर वापिस लौट आता है और कभी वह परिचितों और किसी एक चेहरे के आसपास घूमते परिवृत्त को किसी तेज धार वाले अस्त्र से काटने का संकल्प करता है। वह भुतहा एकांत चाहता है। जहाँ चमकते पिंड, जलता आक्रोश, और यह रौंदता आकाश न हो, यह अतीत का इंद्रजाल मात्र मिथ्या है। इसे कवि उखाड़ फेंकना चाहता है, वह अपनी शिखा को खींच कर एक बार फिर चाणक्य की मुद्रा में नंद वंश को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाता है। यह उसका अनर्गल प्रलाप नहीं बल्कि जागरूप बुद्धिजीवी की अकथनीय पीड़ा है जिसे कवि कविता में शब्दों में ढाल कर पाठक को अपने समय संदर्भ में सोचने को बाध्य करता है।

हम जानते हैं कि रचनाकार अपने आसपास के माहौल के प्रति टकराहटों से उत्पन्न अनुगूँजों से ऊर्जा पाता है और उसका रचना संसार इन्हीं अनुगूँजों की प्रतिध्वनि होता है, इन्हीं से बुना होता है। वह शब्दों को सँजोकर अनुभव के अनुरूप उन्हें एक रूपाकार देता है और इस प्रक्रिया में वह परंपरा और संस्कार के प्रति विद्रोह की समानांतरता में एक नये यथार्थ की खोज करता है। फिर चाहे वह यथार्थ पूरी तरह परिचित हो, अर्ध परिचित हो या अपरिचित। इसीलिए कविता की जगह अकविता शब्द जहाँ चौकता है, वहीं कविता में भावनात्मकता और यथार्थ की अभिव्यक्ति का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करता है, एक ऐसा घोल-जहाँ कविता का संसार क्रूर यथार्थ का संसार हो जाता है। दरअसल जगदीश की कविता ने जिस पतनोन्मुखी मनुष्य की प्रकृति और उससे बनते समाज के नितात भद्दे और घिनौने रूप को कविता की शक्ल में प्रस्तुत किया है, वह सरलता से आत्मसात होना कठिन था और एक चुनौती भरा काम भी। - क्या मजे की बात है हम कीचड में धँसे होकर भी उससे निकलने की छटपटाहट के बावजूद कविता में कीचड़ के उल्लेख को गलाजत की संज्ञा देते हैं। अंधेपन की स्थिति, अंधकार, अनैतिक समाज व्यवस्था, संबंधों की टूटन, मूल्यहीनता, मोहभंग, अमर्यादित व्यवहार, आदमी को बौना समझने की मानसिकता, छल छद्‌म भरी राजनैतिक स्थितियों को असमान्य बिंबों प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने के कविता कर्म को अनैतिक कविता कर्म घोषित कर देना–मुझे लगता है गलत निष्कर्षो पर पहुँचने की गलती करना है, या कहें वर्तमान से झाँकते हुए भविष्य के तेवर को न पहचानने का बौद्धिक दुराग्रह है। हमें लगता है, साठोत्तरी कविता की आत्मा को पहचानने के लिए एक बार अनुभव और चेतना के उसी धरातल पर खड़ा होना होगा जिस पर अवस्थित होकर ये कविताएँ लिखी गई हैं। 'इतिहासहंता' के बाद 'डूबते इतिहास का गवाह' और नए मसीहा का जन्म' में जो बदलते माहौल के संकेत मिलते हैं, उन्हें भी पहचानना होगा और पड़ताल करनी होगी।

'इतिहासहंता' की अनेक कविताएँ अपने अर्थ में सामयिक चुनौती को व्यक्ति सीमा में, कभी सीमा लांघ कर मर्यादा से बने जीवन का अभिशाप की संज्ञा देकर कर्मकाण्डी भारत के सांस्कृतिक वैभव और यश में केवल बू का अहसास ही नहीं दिलातीं, मुगलिया दरबार के वैभव की पैबंद लगे जाजम पर फिर से जा बैठने की हिचकिचाहट भी व्यक्त करती है। अनासक्ति के

स्वर का जगाने के क्रम में अतीत को बेदर्दी से काटते हुए यह कवि जिस लंबे अंतर्द्वंद्व से गुजरा है, उस जिजीविषा को बनाए रखने की सार्थक यात्रा का प्रमाण उसकी कविताएँ प्रस्तुत करती हैं । उद्गीर्ण, प्रायश्चित, मुक्ति, आत्म विघटन, अवस्थित, आत्म स्वीकृति अपने देश के लिए, मैं गरूड़ हूं, इतिहासहंता आदि कविताओं से होती हुई यह काव्यात्मक अभिव्यक्ति डूबते इतिहास का गवाह की कविताओं में एक नई शक्ल के रूप में उपस्थित होती है ।

आस्था की इस यात्रा में एक लंगड़े आदमी का बयान जहाँ *'देश एक लंगड़ाता वृद्ध मरीज/देश प्रेम एक अय्यासी का दिया हुआ महामंत्र/बुद्धिजीवी सो रहे हैं गहरी नींद/पिकासो का नाम केवल बातचीत के बीच गूँजता है/तीसरा युद्ध आँखों के सामने हो रहा है/और चुप है सारा महाद्वीप/प्रतीक्षा मात्र सत्य है और उसे ढो रहा है पूरा महादेश/मानवता का केवल इतिहास में रहेगा नाम/अतीत को याद रखेगा कोई यह सोचना बकवास है।'*

ये पंक्तियाँ एक टिप्पणी भर नहीं हैं और न जिंदगी के नितांत निजी प्रसंगों को कविता में गूँथा गया है । इन्हें डायरी के पन्ने कह देना भी वर्तमान से आँख मूँदना होगा । क्योंकि व्यक्ति के भीतर का उमड़ता भय कवि का निजी भय नहीं बल्कि समूचे परिवेश का है । और यह त्रासदी आतंक विसंगति और विडंबना की भयावहता के संश्लेषण के रूप में पहले जीवन के लिए अहम मसला है कविता में यह जीवन के माध्यम से आया है । समय संदर्भ में देखा जाये तो इससे बड़ा विचार कविता के लिए और क्या होगा ? और फिरबहरी व्यवस्था को सुनाने के लिए यह तो व्यवस्था से पीड़ित जनमानस को उसकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार स्थितियों का खुलासा करते हुए यथार्थ का एक स्तर प्रस्तुत करना है। जो केवल नकारात्मक या निषेधात्मक स्वर से ही संभव था । और अभिव्यक्ति के इस तेवर को जो बुद्धिजीवी रोमेंटिक विस्फोट का परिणाम कहकर नकारते हैं, या नकारना चाहते हैं मुझे लगता हे वे समय के सत्य को झुठलाना चाहते हैं । क्योंकि –

*मेरे शहर में कुत्ते हड़ताल करते हैं या नारे लगाते हैं*
*पर किसी की रीड़ की हड्डी में दर्द नहीं होता*
*केवल चीख-चीख कर कुत्तों का गला भर जाता है या फट जाता है*

निषेध – कालचक्र, पृ· 23

*अनायास लगता है कि वर्तमान एक गहरी सुरंग में गुम हो गया है।*
*तमाम संबंध मात्र एक गाढ़ा धुआं थे जिन ने ढक लिया था सारा शरीर और विचार तंत्र ---*
*अविश्वास के लिए आवश्यक नहीं कि हस्ताक्षर देखकर पहचाना जाये इतिहास।*

निषेध,अनिर्णीत,पृ·25

ये कविताएँ अपनी प्रतिष्ठा स्वयं कराती हैं और कवि के समाज, संस्कृति और इतिहास से सरोकार स्पष्ट करती हैं । कविता में तनाव और जटिलता को व्यक्त करने का यह रास्ता ही अविश्वसनीयता की परतें उघाड़ कर रखने में समर्थ हो सका । समाज के विद्रूप की हवा भरे ये गुब्बारे जब आकाश में दिखाई पड़े तो लोगों में इनके फटने से अपने गिरबान की गंदगी के उजागर हो जाने का भय व्याप गया । भाषा को तोड़ने, अव्यव स्थित या अस्त-व्यस्त करने की इस प्रवृत्ति ने अर्थ के अनेक स्तर उद्घाटित किए, जिसका जायजा हमें समकालीन कविता के अनेक

प्रतिष्ठित कवियों की चर्चित कविताओं में देखने को मिल सकता है । इतिहासहंता वस्तुतः कविता जगत में एक आंदोलन धर्मी परिवर्तन की मानसिकता को मुखर करता है ।

*शांति - नपुंसकों का एक महामंत्र है, जिसे वह युद्ध से डटकर दोहराते हैं/ वे इतना टूट चुके हैं कि कोलाहल से कतराते हैं,*
*कोलाहल को कोई रोक नहीं सकता*
*न बौनी सरकार, न कामचोर अफसर, न प्रसन्न चित्त नेता*

(डूबते इतिहास का गवाह : पृ. 11)

जबकि –

*दुनिया तब तक रहने के काबिल नहीं हो सकती जब तक युद्ध न हो*
*युद्ध जीतने के लिए दिमाग जरूरी है*
*और दिमाग के लिए एक शातिर का स्वास्थ्य*
*और स्वास्थ्य के लिए नियमों में बँधना जरूरी है*
*और सारे नियम इस देश में कुछ लोगों के स्वार्थ के अस्त्र हैं ।*
*और उन अस्त्रों को विवेक से काटने को युद्ध जरूरी है ।*

(वही: पृ. 137)

यह युद्ध जरूरी है या मजबूरी – बहरहाल स्वार्थ के अस्त्रों का विवेक से काटना बेहद जरूरी है और यह कविता उसी के लिए जनमानस तैयार करने का दायित्व निर्वाह करती है ।

'इतिहासहंता' से 'डूबते इतिहास का गवाह' की कविताओं में एक खास फर्क यह देखने में आता है कि यहाँ कवि आस्था को एक नए तेवर में प्रस्तुत करता है, मान्यताओं का निषेध यहां तक आते-आते सार्थक कवि कर्म की तलाश को एक स्तर देता है । यकीनन यहाँ प्रयुक्त शब्द 'युद्ध' अराजकता को तोड़ने का एक उपकरण बनकर प्रतीकित किया गया है । इसको गलत अर्थ छायाओं में परिभाषित करना कविता और कवि की दृष्टि दोनों के साथ अन्याय होगा । क्योंकि राजनीति की संकीर्ण बर्बरता को तोड़ने के लिए वह गये तीन दशकों में आम आदमी की नियति और व्यवस्था के बीच के रिश्ते को अपनी भयावहता में उजागर भी करता है । उसकी इस मानसिकता को रेखांकित करने और उससे उबारने के लिए यही शब्दावली शायद अपेक्षित भी थी ।

हम यह भी जानते हैं कि युद्ध धातु से बने अस्त्रों और शस्त्रों से नहीं लड़ा जाता । एक स्तर पर व्यक्ति स्वयं से भी युद्ध लड़ता है । वैचारिक द्वंद्व और तनाव की इन स्थितियों में टकराहटों से निश्चय ही जिस नई स्थिति और नए स्तर का जन्म होता है उसके आलोक में व्यक्ति की विकसित होती समाज की राजनैतिक चेतना को देखा जा सकता है । हम यह भी जानते हैं कि स्थिति की भयावहता बद से बदतर हुई है । व्यक्ति स्वयं को और अधिक असुरक्षित अनुभव कर रहा है । लेकिन वह उस दबदबे से और छल प्रपंच से उतना आतंकित नहीं है शायद वह इस सब का अभ्यस्त होता जा रहा है । दुव्यर्वस्था के प्रति घृणा और विक्षोभ का स्तर भी

अब उतना पैना नहीं रहा। इसीलिए कवि भी इन स्थितियों में एक तरफ सूर्य पुत्र (1975) की रचना करता है जिसमें वह महाभारतकालीन राजनैतिक दुराग्रहों के बीच कर्ण की अंतरवेदना को एक भावनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करता है तो दूसरी और वह दूसरा स्तर भी है जहाँ निषेधात्मक प्रवृत्तियों के आक्रोश के समानांतर कवि व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध के स्तर पर संवेदनात्मक हो जाता है। शायद यह कवि का पॉजिटिव रूख भी हो सकता है लेकिन उसकी कविता से उभर कर आने वाला आशय सदैव जनोन्मुख ही रहा है।

डूबते इतिहास का गवाह में संग्रहीत कविताओं में विगलित संस्कृति के प्रतिकार में उभरे समूह के जिस स्वर को अभिव्यक्ति मिली है। यदि देखें ***इस लंगड़े मुल्क में अब कुछ होगा/यह एक बेजा कल्पना है।* यह निराशा केवल निराशा भर नहीं है अराजक होती जा रही स्थितियों के प्रति विस्फोट की पृष्ठभूमि है और एक आत्मीयता के साथ लगातार घिसती जा रही शताब्दी का निषेध - यह भाव एक दृष्टि के रूप में केंद्रीय चेतना के स्तर पर मुखर होता है। बदलाव की एक स्वस्थ आकांक्षा इनके पीछे एक सूत्र रूप में सदैव अनुस्यूत रही है पत्थरों के जिस बेजान शहर में यह कवि पिछले कई वर्षो से एक लाश ढो रहा है, यह एक अंधी नियति है। *कोई नहीं है इस डूबते इतिहास का गवाह/न कोई इस व्यभिचार का दावेदार, बस किसी शिकंजे का किसी भेड़िये के पंजों का एक इंतजार है। कोई भी हो सकता है वह जवां बाज, कोई क्रांतिकारी -एक नया मसीहा।"*

नए मसीहा का जन्म (1988) की अधिकांश कविताएँ कवि के इसी रचनाकर्म का विकास हैं। जिसके संकेत 'डूबते इतिहास का गवाह' कविता में स्पष्ट हो जाते हैं। यह एक स्थिति है जिसका आभास कवि ने बचपन में ही कर लिया था।

*"जिन्दगी एक ऐसा रेगिस्तान है/जिसमें बियावान बंजर और रेतीले ढूह हैं और दूर तक फैले हैं रेत के समुन्दर . . कोई आश्वासन देकर कभी किसी को नहीं छला/किसी भी परिचित को गुनाहगार नहीं माना "* – कवि का सौंदर्य बोध यहाँ आकर मुखर हो जाता है

और वह कहता है कि - *तुम्हें देखकर उग आते थे गुलाब . . तुम्हारे हाथों में ढूंढ़ता अपना भविष्य/तुम मेरी संभावना थी ।* नारी के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण माँ, प्रेयसी, मित्र के रूप में उसकी आस्था, संस्कारगत दृष्टि और जिस निश्छल भावना को व्यक्त करता है, यहाँ आकर निषेधात्मक प्रवृत्तिगत प्रतीकित नारी और उसके मन में स्थापित आदर्श भाव संपन्न नारी का समानांतर रूप देखा जा सकता है। यानी जहाँ कवि आक्रोश और निषेध की मुद्रा में चीजों को उखाड़ फेंकने ध्वस्त करने की झुंझलाहट में अपनी बात कहता है, वहाँ भी वह नारी प्रतीकों का सहारा लेता है। और जहाँ वह अपनी कोमल भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहता है वहाँ भी नारी प्रतीकों का सहारा लेता है। नारी प्रतीक व्यग्रता और कोमलता के दोनों स्तर पर जगदीश चतुर्वेदी की कविता में व्यक्त हुए हैं। इनका प्रयोगगत भेद यदि संदर्भ में देखें तो सारी चीजें स्पष्ट हो सकती हैं। कवि की आस्था का एक स्तर यह है कि जब वह कहता है - *तुम मेरी माँ थीं/तुमने मुझे गंध दी/तुम शारदीया आकाश थी /तुम एक नारी थी/ मैं आदिम तृष्णा से तुम्हें चाहता था।* यानि/तमाम अकविताई भोगवाद के दूसरे धरातल पर प्रेम और भावना का यह निदर्शन व्यक्ति मन की अचेतन गहराइयों से तरल अनुभूतियों की एक मर्मस्पर्शी प्रतिछवि भी उपस्थित करता है।

जगदीश चतुर्वेदी चिंतन की मुद्रा में जहाँ कहीं दार्शनिक हो गये हैं। वहीं सहज संवेदनशील भावुक भी, पर निश्चय ही यह कवि का दूसरा धरातल है। अराजकता के विद्रूप को उजागर करता कवि जिन अपेक्षाओं को उपेक्षित महसूसता है, वहाँ वह समाज में आए निर्वात के प्रति आशंकित भी है। वह एक समय पूरी की पूरी पीढ़ी के नुपुसंकत्व से पीड़ित और उद्विग्न था। वह चाहता था एक सुखद जीवन संदर्भ, जिसकी कल्पना बिना संघर्ष के अधूरी होती।

अकविता के समूचे संघर्ष का उद्देश्य इतिहास हंता और डूबते इतिहास का गवाह में प्रक्रिया और प्रतिक्रियाजन्य कला रूप की परिणति के रूप में नये मसीहा का जन्म में स्पष्ट देखा जा सकता है। क्योंकि आज वह समय आ गया है जब *'हम संस्कृति को एक नया जीवन दें।/ पवित्रता को आधुनिकता के आलोक में नया नाम देते हुए संसृति के पुराने अनगढ़ अक्षरों में अपनी मांसल अनुभूतियों से एक शिशु का नाम लिख दें जो हमारे नए जीवन का इतिहास बन सके।* शायद कुहरे के पास सूर्य का उग आना और अगाध चुप्पी के बीच किसी शताब्दी आलेख में अंकित हो जाना ही कलाकार का वह सत्य है जिसे कवि पाना चाहता है।

निस्सीम अंत की प्रतीक्षा करते हुए कवि का स्वर यहाँ थका हुआ जान पड़ता है। उम्र के इस मोड़ पर आकर कवि एक बार फिर प्यार शब्द के प्रति भावुक हो उठता है – विश्वास की परिभाषा समाज नहीं स्वयं के रक्त से लिखी जाती है – यह उक्ति कवि के पूरे परिदृश्य को समझने का एक दूसरा ही अंदाज देती है। एक लंबे समय तक दुर्गंध कहकर निषेध का स्वर प्रस्फुटित करने वाला कवि आज अपने आसपास अनायास ही एक चन्दनी अहसास का, महक का आभास नहीं पाता बल्कि वह एक अपेक्षा भी अनुभव करता है। देश आज भी बीमार है, स्थितियाँ सातवें दशक से भी ज्यादा भयावह हैं। विश्वास और पारस्परिकता सौदेबाजी और सीधे समझौता परस्ती के हाथों पूरी तरह बिक चुके हैं। इनका मुकाबला करने के लिए एक समय वह था जब कवि भुतहा एकांत चाहता था – आज वही कवि अपने बेटे के लंदन जाने पर महसूस करता है – – *'जब वह मुझे पुकारेगा/तो लगेगा वह बादलों भरी टेम्स के किनारे से नहीं मेरे अंदर से बोल रहा है।"* कवि ने एक जुनून में कभी जिस नैटवर्क का पूरी तरह उधेड़ने का बीड़ा उठाया था आज एक दूसरे ही दृष्टिकोण से कवि उन उलझनों को सुलझाना चाहता है। वह उन उलझनों के बीच, उनके नजदीक बैठकर संबंधों के रेशे बीनता हुआ कहीं आत्मबोध के स्तर पर अतीत को याद करता है तो कहीं मालवा की सुगंध भरी स्मृतियों चित्रों के माध्यम से स्वयं को पोर्टे करता है। वह उसी भाव से फूलों पर, पत्तियों पर, प्रेमिकाओं पर कविताएँ लिखता है। *उसेनहीं पता इस मिट्टी से/इन आवाजों से इस आकर्षण से उसका कितना गहरा और आत्मीय और सजीव नाता है।* उसे लगता है – *जहां दो गंध मिलती है, एक तीक्ष्ण आवेग धरती पर चक्रवात का घूमता है/ जहाँ दो धाराएँ फूटकर एक ही स्थान पर गिरती हैं/वह स्थान देवालय बन जाता है।*

इस प्रकार इतिहासहंता से नए मसीहा का जन्म तक आते-आते सारी उद्विग्नता, बौखलाहट, निषेध की मानसिकता एक दूसरे ही रूप में बदलती है तरल हो जाती है। यह सब यकायक नहीं होता। गत तीन दशकों के रचनात्मक दौर से गुजरते हुए बराबर यह लगता रहा है – *कोई इस घटनाचक्र को रोक नहीं सकता, जीवन एक यंत्र हो जाएगा मनुष्य एक पत्थर/इस सदी का दारूण अंत यही होगा।* इसे अनिवार्य नियति मानकर चुपचाप भी तो नहीं बैठा जा सकता। बहरहाल – *कृष्ण की तरह करील कुंजों में बंसरी बजाने का मन होता है कि कुछ देर को ही सही, लोग राहत की साँस लें/ऐसे समय मोह अच्छा लगता है।* एक मोहभंग की स्थिति के बाद दूसरे

प्रकार की मोहग्रस्तता किस रूप में रूपायित होगी यह इलहाम पत्थर हटाकर जिन नए नामों को खोदने की बात करता है, वह नए रूप का आक्रोश है। एक शैतान से बाल्मीकि बनने के मिथक को जन्म देकर कवि ने यहाँ जिस आस्था की बात की है वह समूचे निषेध की प्रक्रिया और पीडा जन्य परिणति का द्योतन ही नहीं कराता। निषेध को कविमन के एक खास समय का उद्योग या उद्वेग भी साबित करता है जो धीरे धीरे अपने आपको शांति के मसीहा के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। निश्चय ही यह संकेत पूरी जटिल रचना प्रक्रिया से छनकर यह सिद्ध करते हैं कि अब कवि एक नए भाव नए भाव बोध और जीवन के प्रति रागात्मकाता से जुड़ता जा रहा है, लेकिन उसका व्याकरण उसका अपना है।

□

---

नए मसीहा का जन्म (कविता संग्रह) / जगदीश चतुर्वेदी / प्रकाशक : पल्लवी प्रकाशन ए-35 निर्माण विहार / दिल्ली 110092 / संस्करण : 1988 / मूल्यः चालीस रुपये / पृष्ठ : 96 ।

# संवेग को संभालने की जरूरत

**नरेंद्र मोहन**

कविता रचने की किसी कवि की प्रक्रिया जहाँ कविता की प्रकृति को निर्धारित करती है, वहीं कवि के कविता और जीवन संबंधी दृष्टिकोण को भी अनायास खोल देती है। कवि कविता को किस रूप में ले रहा है, कविता के प्रति उसका सलूक कैसा है, सजृन क्षण को वह किस शिद्दत से झेलता हे, उसे अपने अनुभवों के आधार पर कैसे विस्तार देता है, कैसे उसे परिवेश में ढालता और खपाता है, इस पर कवि और कविता का महत्व बड़ी हद तक निर्भर करता है। रचना-प्रक्रिया के सवाल को प्रताप सहगल की कविताओं के संदर्भ में उठाना मुझे जरूरी लगता है। जो कवि कविता को प्यार करता हो, उस के संग जीता और मरता हो (कविता मेरे लिए), उसके लिए कविता अस्तित्व की बुनियादी शर्त हो सकती है। प्रताप सहगल जब यह कहते हैं कि 'कविता यूँ ही नहीं आती है। हड्डी-हड्डी को खाती है' तो वह रचने की अपनी निजी प्रक्रिया की ओर संकेत ही नहीं कर रहे, अपनी और अपनी कविता की प्रकृति को भी रेखांकित कर रहे हैं। कविता उस के लिए सबसे पहले एक आंतरिक एहसास है जो उसे लगातार मथता रहता है। यही वह बिंदु है जहाँ काव्याभिव्यक्ति उसकी विवशता बनती है और कविता जरूरी कवि – कर्म के तौर पर उभर आती है।

'आदिम आग' प्रताप सहगल का दूसरा कविता-संग्रह है। उन का पहला कविता-संग्रह था 'सवाल अब भी मौजूद है' जिस में आंतरिक सच और सामाजिक सच के द्वंद्वात्मक विधान को संवेगात्मक अभिव्यक्ति दी गयी थी। यह प्रवृत्ति उन के दूसरे संग्रह में भी मिलेगी। 'आदिम आग' की कविताओं में कवि का कविता और मनुष्य के साथ रिश्ता-संवेगात्मक है। कविता में अभिव्यक्त संवेग के प्रकृत स्वरूप की वजह से ही संग्रह का नाम 'आदिम आग' रखा गया है। यह संवेग या 'आदिम आग कभी-उत्तेजना का रूप ले लेता है, कभी भावाकुलता का, कभी तनाव का।

इस संग्रह में दो तरह की कविताएँ हैं - एक है बिंबधर्मी, प्रतीक-निर्भर कविताएँ जो अपनी बनावट में छोटी या मिनी हैं, दूसरी हैं किसी भाव या विचार के ब्यौरे पेश करने वाली और वस्तु निरूपण करने वाली कविताएँ। पहले प्रकार की कविताओं में एक मनोदशा, भाव-दशा या दृष्टिकोण का प्रतीकात्मक या बिंबात्मक संयोजन हुआ है, या दोनों की सहधर्मिता है। 'जिंदगी' कविता में जो चित्र उभरता है वह विसंगति को खोल देता है :

पैबन्द-दर-पैबन्द
जुड़ी हुई पतलून
फिर भी
टाँगों में फंसाए रखने का
जुनून।

'तानाशाही', 'प्रजातंत्र', 'पतझड़', 'बसंत', 'अस्पताल का शोर', 'धर्म और जिंदगी' कविताएँ भी देखी जा सकती हैं।

भावों, विचारों को प्रतीकात्मक पद्धति से व्यक्त करने की आकांक्षा कवि में शुरू से रही है। आज के जीवन-व्यापारों, संवेदनाओं और सच्चाइयों का बोध कराने के लिए वे जो प्रतीक सत्ता खड़ी करते हैं, उसमें नए अर्थ झलकाने की शक्ति है। 'संकट' कविता में 'गिद्ध' और 'कबूतर' के प्रतीकों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

इस संग्रह में कुछ कविताएँ जटिल भाव-बोध को उजागर करती हैं। 'पिता की मौत पर' ऐसी ही एक कविता है। पिता की मौत से जुड़े अनुभव को इस कविता में संवेदनात्मक धरातल पर उठाया गया है। कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं : 'किसी की मौत की खबर। एक खबर होती है। और पिता की मौत। एक सन्नाटा।' कविता जैसे-जैसे अंत की ओर बढ़ती है, वह सपाट होने लगती है :

मुझे अपने सवाल का
जवाब मिल जाता है
जवाब मिल जाता है
किसी की भी मौत
छीन नहीं सकती
जीवन पिता का भी नहीं

जटिल और सघन अनुभव से शुरू होने वाली कविता का इस ढंग से समापन कविता को इकहरा और सरलीकृत बना देता है। यहां निष्कर्ष देने की प्रवृत्ति ने काव्यानुभव को अवरूद्ध कर दिया है।

इस संग्रह में कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिन में व्यक्ति-चित्र फैलता हुआ जीवन के बहुविध पहलुओं को छू लेता है। 'मोरेंग में : नेताजी का स्मारक देखने के बाद' कविता में सुभाषचंद्र बोस को केंद्र में रखते हुए आज की जिंदगी के कुछ स्तरों और मूल्य-बोध के कुछ सवालों को पेश किया गया है स्वप्न और यथार्थ के झिलमिलाते बिंबों में। इस दृष्टि से 'सूरज जब ऊपर उठता है' कविता भी देखी जा सकती है।

'आदिम आग' की कुछ कविताओं में गहरी उमडन-घुमड़न है, तीव्र आत्म-संघर्ष है जो कवि को बुरी तरह मथता है। 'नींद नहीं आती' और 'किसलिए' कविताओं में वैयक्तिक स्तर का आत्म-मंथन सामाजिक सीमांतों को छूने लगता है। ये दोनों कविताएँ आहिस्ता-आहिस्ता उठती-फैलती गयी हैं और असंतोष, आक्रोश को निर्णय के क्षण तक पहुँचा देती हैं। लेकिन ऐसी कविताएँ संग्रह में कम ही हैं। अनुभव के धरातल भी यहाँ सीमित ही हैं। वस्तु और शैली-शिल्पगत जो विविधता उन के पहले संग्रह में मौजूद थी, वैसी 'आदिम आग' में नहीं है। □

---

आदिम आग / (कविता संकलन) प्रताप सहगल / प्रकाशक : पराग प्रकाशन / 3 ए 114 करण गली / विश्वास नगर / शाहदरा दिल्ली-110032 / मूल्य 30 रुपये / प्र सं 1988।

# महासमर : महाभारत का नया विश्लेषण

डॉ. रणवीर रांग्रा

रामकथा को आज की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा उपन्यास के माध्यम से आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ढाल कर सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने के बाद नरेंद्र कोहली अब महाभारत पर उतर आए हैं और उनके 'महासमर' नामक उपन्यास का पहला खंड 'बन्धन' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इतिहास या पुराण को आधार बनाकर उपन्यास लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई पेश आती है पात्रों के चरित्र-चित्रण में। यहाँ उपन्यासकार अपने पात्रों के लोकविख्यात इतिहास-पुराण-सम्मत रूप से हटकर उनके चरित्र का स्वतंत्र विकास नहीं कर सकता। उनका लोकविख्यात रूप उपन्यासकार की कल्पना के पर काट देता है और उसे अपने पात्रों के साथ मनमानी नहीं करने देता। यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है जब उपन्यासकार उन्हें किसी पूर्वनिश्चित धारणा या दृष्टिकोण से चित्रित कर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचाने की ठान चुका हो। ऐसी स्थिति में उसके आगे दो ही रास्ते रह जाते हैं। एक तो यह कि वह स्वतंत्र खोज द्वारा अपने दृष्टिकोण के अनुरूप सामग्री जुटा ले और उसकी प्रामाणिकता के आधार पर पात्रों के चरित्र का निर्माण करे।

दूसरा रास्ता यह है कि वह पात्रों के चरित्र के उस गुह्य रूप के चित्रण में प्रवृत्त हो जो अब तक इतिहास-पुराण की पहुँच से परे रहकर उनके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहा है, इसके लिए उसे अपने पात्रों के बहिर्जगत और उसमें व्यक्त उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया में उलझा रहकर उनके अंतर्जगत को अपना लक्ष्य बनाना होगा और भीतर की अंधेरी और चकरीली-पथरीली गुफाओं में उतर कर उनमें मचल रहे द्वंद्वों-संघर्षों को आँकने की चेष्टा करनी होगी तथा उनके व्यक्त और अव्यक्त रूपों में विश्वसनीय तारतम्य जोड़कर कार्य-कारण का ताना-बाना बुनना होगा। पुराणकार की तरह उपन्यासकार को यह छूट नहीं होती – उसके उपन्यास का कथानक भले ही पौराणिक हो – कि अपने पात्रों के चरित्र-विकास में आए आकस्मिक और विचित्र मोड़ों से सूत्र उनके पिछले या पिछले से भी पिछले जन्म में ढूँढ़ सके। उसे तो सभी पात्रों का कृताकृत में कार्य-कारण के सूत्र उनके इसी जन्म में ढूँढ़ने-बुनने होंगे, और वह भी अतिमानवीय नहीं, मानवीय धरातल पर ही। उसके उपन्यास की कोई भी घटना अथवा पात्र की कोई भी क्रिया-प्रतिक्रिया अनहोनी नहीं लगनी चाहिए। इसलिए महाभारत को जिसमें अनहोनी घटनाओं की भरमार है, उपन्यास में ढालना अपने-आप में बहुत बड़ी चुनौती है। नरेंद्र कोहली ने जो इस चुनौती को स्वीकार किया है यह उनकी सामर्थ्य का द्योतक है।

'महासमर' का यह पहला खंड सत्यवती के मिलन से शुरू होता है जो महाभारत की मूल घटना है। सत्यवती के प्रति शांतनु की अदम्य आसक्ति और पिता का दुख हरने के लिए देवव्रत द्वारा अखंड ब्रह्मचर्य की भीष्म प्रतिज्ञा उसी की उपज है। फिर निर्वीयता और नियोग के चक्र में उलझती-सुलझती इस खंड की महाभारतकथा पांडवों के जन्म और पांडु के निधन के बाद उनके

हस्तिनापुर लौट आने तथा टूटी-हारी सत्यवती के कृष्ण द्वैपायन के संग उसके आश्रम के लिए प्रस्थान के बाद समाप्त हो जाती है। देवव्रत और सत्यवती इस खंड के प्रमुख पात्र हैं। शांतनु, पांडु, धृतराष्ट्र, अम्बा, कुन्ती, गान्धारी आदि अन्य पात्र उनके चरित्र को धार देते हैं। देवव्रत भीष्म का चरित्र अनेक परस्पर-विरोधी धाराओं का संगम अतः बहद दुरूह है। वह राजकुमार है, शरीर और मन दोनों से बलिष्ठ है, शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात है, हर प्रकार से प्रजावत्सल है – उसमें चक्रवर्ती सम्राट के सभी गुण विद्यमान हैं, फिर भी राजकाज में उसका मन नहीं रमता, राजसी ठाठ-बाठ की अपेक्षा तापस का जीवन उसे लुभाता है। भरी जवानी में ऐसा वैराग्य, संसार की हर वस्तु से वितृष्णा, यह सब क्यों ?

इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए 'महासमर' का लेखक भीष्म के बचपन में झाँकता है तो आधुनिक बालमनोविज्ञान के अनुसार अवांछित-उपेक्षित बालक के सभी लक्षण उसमें मिलते हैं। उसके माता-पिता दोनों ही जीवित थे, किंतु उसकी देखभाल करने के लिए अवकाश न पिता को था न माता को ही। माता गंगा नारी-स्वातंत्र्य पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने देना चाहती थी, इसलिए पिता से अलग पूर्णतः स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रही थी, और पिता अपने मन के घाव को भरने के लिए वन-पशुओं को घायल करने में समय काट रहा था। भीष्म को एक लंबी अवधि तक आश्रमों में रहना पड़ा –– अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए और इसलिए भी कि हस्तिनापुर के राजप्रासाद में ऐसा कोई नहीं था जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा हो। वह वसिष्ठ के आश्रम में रहा, परशराम के आश्रम में रहा, बृहस्पति के पास रहा, शुक्राचार्य के निकट रहा। इस प्रकार, आर्य और देव-ऋषियों के आश्रमों में छत्तीस वर्ष बिताए देवव्रत ने। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो देवव्रत टूटे-बिखरे परिवार का अवांछित बालक था – 'अनवांटेड चाइल्ड आफ ए ब्रोकन होम'।

हज़ारों वर्षों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही भीष्म की दृढ़ निश्चल प्रस्तरमूर्ति-जैसी छवि को भेद कर उसके भीतर मचल रही प्रेम-तरंगों को बेनकाब करने का सफल प्रयास भी इस उपन्यास में हुआ है। भीष्म का अखंड-निर्द्वंद्व ब्रह्मचर्य आज तक आदर्श माना जाता है पर 'बन्धन' का निर्बंध लेखक उसके भीतर झाँकने से नहीं चूकता और इसका अवसर प्रदान करती है अम्बा जो काशिराज की उन तीन कन्याओं में सबसे बड़ी थी जिन्हें भीष्म स्वयंबर से हरण करके लाया था। हरण के समय भीष्म ने कतई यह प्रकट नहीं किया कि वे इन कन्याओं का हरण अपने भाई विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए कर रहे हैं। उनके इस मौन के कारण ही अम्बा को भ्रम हुआ कि भीष्म अपने लिए उसका हरण कर रहा है और वह शाल्व के प्रति अपने आकर्षण को दबाकर भीष्म की और ढुलक पड़ी । भीष्म की यह चूक सर्वथा निरीह हो, यह मानना सही न होगा, बल्कि यह चूक तो उनके मन का गवाक्ष खोल देती है, लेखक को भीष्म के भीतर ठाठें मार रहे रस के सागर तक पहुँचने का और अम्बा को उसे आड़े हाथों लेने का अवसर प्रदान करती है। अम्बा के यह बताने पर कि अपनी इच्छा और पिता की सहमति से वह शाल्व को अपने पति के रूप में वर चुकी है और स्वयंबर में यदि उसका हरण न होता तो वह उसी का वरण करती, भीष्म ने सत्यवती और धर्मज्ञ ब्राह्मणों से परामर्श करके उसे विचित्रवीर्य से विवाह करने की बाध्यता से मुक्त करा दिया और शाल्व के पास भिजवा दिया। पर मन ही मन वह अपने से लड़ता भी रहा।

*विदा होती हुई अम्बा की वह छवि उसके हृदय में एसी अंकित हुई थी कि मिटना तो दूर वह तनिक धूमिल भी नही हुई। एकांत का एक क्षण मिलते ही जैसे हृदय में अंकित अम्बा की छवि*

सजीव हो उठती, 'तुमने मेरे साथ अत्याचार किया है, भीष्म। शाल्व के प्रति मेरा आकर्षण अवश्य था, क्योंकि मेरे जीवन की वाटिका में पवन का कोई झोंका आया ही नहीं था। किंतु जब तुम आए, मुझे अपने हृदय को टटोलना पड़ा। शाल्व के प्रति मेरे मन में क्या था, अनुराग ? या - - - तुमने मेरा हरण किया और मैं तुम्हारी वीरता पर रीझ-रीझ गई। मैंने तुम्हारा रूप देखा, तुम्हारा संकल्प देखा, तुम्हारा साहस और धैर्य देखा, तुम्हारी शस्त्र कला देखी, तुम्हारा युद्ध कौशल देखा और जैसे-जैसे तुम्हारी तुलना शाल्व से करती, तुम पर रीझती गई। 'भीष्म अपने मन में बोलती अम्बा की छवि को बड़ी कठिनाई से चुप कराता। वह मानता था यह सब उसका भ्रम है। नहीं, शायद यह भ्रम भी नहीं है। उसने आज तक अपने जिन कामनाओं का बलात् दमन किया था, उन सबने मिलकर ही जैसे अम्बा का रूप धारण कर लिया था। वह समझता था, कि उसने अपनी कामनाओं को जीत लिया है, काम को पराजित कर दिया है, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था।

अपने बाबा की सीख पर सत्यवती ने अपने सुहाग शांतनु को अखंड बनाए रखने की बजाय अपने राजसी वैभव को ही अखंड बनाये रखने की चेष्टा की और पूरे राजतंत्र को स्वार्थसिद्धि में झोंक दिया। परिणाम वही हुआ जो होना था। जब उसे पता चला कि उसका दूसरा बेटा भी क्षयरोग का शिकार होकर हाथ से निकला जा रहा है, तब उसका विलाप देखते ही बनता है, 'क्या है यह सब ? कौन सा पाप किया है सत्यवती ने, जिसका उसे दंड मिल रहा है। पहले अपना प्रिय तापस छूटा, नन्हें कृष्ण द्वैपायन को त्यागा; फिर वृद्ध पति पाया, विधवा हुई, चित्रांगद छोड़ गया और अब यह विचित्रवीर्य -- क्या यह सब केवल इसलिए कि उसने भीष्म के अधिकार का अपहरण किया, पर क्या पाया उसने ? सब कुछ तो खोया ही खोया है। क्या यह सब उसका अपना कृत्य है या किसी और का ? भगवान का या मनुष्य का ?'

पर सत्यवती हार मान लेने वाली स्त्री नहीं है। उसके जीवन की विडंबना यह है कि वह अपनी हर सफलता का श्रेय तो अपने को देती हे, पर अपनी हर विफलता में, अपनी अपराधभावना के कारण, भीष्म का षड्यंत्र देखती है। अपने कानीन पुत्र कृष्ण द्वैपायन के समझाने पर भी भीष्म के प्रति उसके मन में विश्वास नहीं जमता। जब कृष्ण द्वैपायन उसे सलाह देता है कि हस्तिनापुर को भीष्म के संरक्षण में छोड़, वह राजपाट के झंझटों से मुक्ति पाकर उसके साथ आश्रम में चल दे तो वह विक्षिप्त-सी चिल्ला पड़ती है, 'भीष्म बहुत धूर्त है। वह जानता है कि हस्तिनापुर का राजसिंहासन हत्यारा है। इसलिए वह स्वयं उस पर नहीं बैठता जिसे वह अपना शत्रु समझता है, उसे उस पर बैठा देता है, और वह कालकवलित हो जाता है। उसके निकट भीष्म उसका असली शत्रु था, क्योंकि उसने भीष्म का राज्य छीना था। कृष्ण द्वैपायन उसे समझाता है, 'तुम यह समझती रही कि तुमने भीष्म का राज्य छीना। इसलिए तुम्हारे मन में अपराध-बोध था। यही अपराध-बोध निरंतर इस आशंका में बदलता रहा कि भीष्म अपना छिना हुआ राज्य पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। अतः यह तुम्हारा शत्रु बन जाएगा। तुम अपनी शत्रुता भीष्म के मन में प्रतिबिंबित देखती रहीं। पर भीष्म वह नहीं मानता कि उसका राज्य छीना गया है। वह मानता है कि उसने अपने राज्य का स्वयं त्याग किया है। -- तुम तो भीष्म के राज्य-त्याग का निमित्त बनी, माँ। नहीं तो वह किसी और व्याज से यह त्याग कर देता। इसलिए उसके मन में तुम्हारे विरूद्ध कुछ नहीं है; तुम आज तक अपने ही कलुष से जली, माँ। भीष्म ने तुम्हें कभी नहीं तपाया। 'पर सत्यवती उस मिट्टी की नहीं बनी कि कोई उसे उसकी धारणा से विचलित कर सके - उसे समझाने वाला भले ही स्वयं कृष्ण द्वैपायन यानी वेदव्यास हो।

नारी पात्रों में सर्वाधिक चतुर और गहन है गान्धारी। कुरुवंश के पतन के बीज यदि सत्यवती ने बोए थे, तो उसे रसातल में पहुँचाने वाली थी गान्धारी। पर तुर्रा यह कि चारों ओर उसकी वाह-वाही होती रही, उसके विरूद्ध कभी कोई एक आवाज़ भी नहीं उठी। उसने अपनी आँखों पर पट्टी अंधे से बलात् विवाह के विरूद्ध 'प्रोटेस्ट' के रूप में बाँधी हो, या किसी और कारण से, पर इस कृत्य से उसकी खूब प्रशंसा हुई और ख्याति भी फैली। वास्तव में कुरूवंश को रसातल तक पहुँचाने के लिए कृतसंकल्प था गांधार नरेश और उसके लिए सक्रिय भूमिका निभाई उसकी पुत्री गान्धारी और पुत्र शकुनि ने। अंधे धृतराष्ट्र के लिए गान्धारी का दान गान्धार-नरेश को मजबूरी में करना पड़ा था जिसकी कसक उसके लिए असह्य थी। इसलिए गान्धारी के साथ अपने पुत्र शकुनि को भेजते हुए उसने जो कहा था वह उल्लेखनीय है, 'पुत्र, तुझे शकुनि तब मानूँगा जब तुम गान्धरों की इस पराजय को, कौरवों के यम-फाँस में परिवर्तित कर दो। संभवतः हमारी पराजय का यह क्षण, गांधारी के अभ्युत्थान के लिए ही आया हो। तुम उसी का प्रयत्न करना, कौरवों के शासन-तंत्र में तुम्हारी गति जितनी ही बढ़ती जाएगी, मुझे उतनी ही प्रसन्नता होगी।

हस्तिनापुर पहुँचकर पहला काम जो गांधारी ने किया वह था टूटे-हारे धृतराष्ट्र में राज्यलिप्सा की चिनगारी लगाना। यह अभियान उसने प्रथम मिलन में ही छेड़ दिया। धृतराष्ट्र इतना डरा-सहमा हुआ था कि गान्धरी द्वारा राज्याधिकार की चर्चा छेड़ने पर वह कहता है, 'धीरे बोलो कोई सुन लेगा। तुम नहीं जानतीं, इस सारे हस्तिनापुर में मैं एकदम अकेला हूँ; सत्यवती, ज्येष्ठ तात भीष्म, पाण्डु, विदुर यहाँ तक कि मेरी अपनी माता अम्बिका भी सब मेरे विरूद्ध पाण्डु के पक्ष में हैं। मंत्रिगण, गुरू-प्रमुख, सैनिक आदि सब उसके पक्ष में है। मैं एकदम अकेला हूँ। 'गांधारी ने टटोल कर धृतराष्ट्र का हाथ अपने हथेलियों में लिया और स्नेह से उसे दबाया। धृतराष्ट्र को अपार सांत्वना मिली। गान्धारी बोली, 'अब आप अकेले नही। मैं हूँ आपके साथ। मैं और आप एक हैं। मेरे साथ शकुनि है, पिता गान्धारराज है, गांधार का राज्य है। हम सब आपके हैं। बताइए, आप अकेले हैं – बोलिए न? 'धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही निकल गया। 'यह सब तो मैंने सोचा ही नहीं था। और मेरी प्रियतमा, तुम मेरी रति ही नहीं, शक्ति भी हो। तुमने तो मुझे एक ही क्षण में कामदेव भी बना दिया और उसे भस्म कर देने वाला महादेव भी। 'धृतराष्ट्र ने गांधारी को अपने अंक में समेट लिया। वह धैर्यपूर्वक पति के अंक में दुबकी रही और जब उसका आवेश कुछ कम हुआ तो अपने को सहेज कर बोली, 'आर्यपुत्र, यह राज्य आपका है, और आपका ही रहेगा।' धृतराष्ट्र आह भर कर बोला, 'इस न्याय को हस्तिनापुर में मान्यता प्राप्त नही है। ज्येष्ठ तात भीष्म और पितामही सत्यवती ने निर्णय किया है कि जन्मान्ध राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता।' गान्धारी बोली, 'हां, ठीक निर्णय दिया है उन्होंने। यह ठीक है कि ज्येष्ठ जन्मांध राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं है, किंतु सिंहासन का अधिकार उसी का है।' धृतराष्ट्र की समझ में कुछ नहीं आया और वह बोला, 'पहेलियाँ' मत बुझाओ।' गान्धारी बोली, 'इसका अर्थ यह है कि उसके स्थान पर जो कोई भी सिंहासन पर बैठ रहा है, वह ज्येष्ठ राजकुमार के निमित्त शासनकार्य चला रहा है, जैसे आज तक आपके ज्येष्ठ तात भीष्म ने चलाया है। राज्य ज्येष्ठ राजकुमार का ही रहेगा और जिस दिन ज्येष्ठ राजकुमार का पुत्र जन्म लेगा, उसे हस्तिनापुर का युवराज घोषित किया जाएगा। 'धृतराष्ट्र के मुँह से अनायास निकला, 'गंधारी।' लोहा गर्म जान गांधारी ने अंतिम चोट की, 'हाँ, आर्यपुत्र, आप ज्येष्ठ तात और पितामही से चर्चा करें – और यह वचन

मैं आपको देती हूँ कि पांडु का पुत्र जन्म ले, उससे पहले मैं आपके पुत्र का प्रसव करूँगी ।' धृतराष्ट्र को लगा, आज जैसे उसका नया जन्म हुआ था ।

यहां हम कुछ प्रमुख पात्रों को ही ले पाए हैं । 'महासमर' के इस खंड में उपन्यासकार ने जिस भी पात्र को छुआ है, उसकी अंतरात्मा को आंदोलित करने वाले उन सभी उद्वेगों-द्वंदों को पकडने के प्रयास में वह उसके भीतर तक उतरता गया है । उस पुरुष-प्रधान समाज में सबसे अधिक शोचनीय स्थिति थी नारी की, जिसमें आज तक कोई विशेष सुधार नहीं हुआ । राजा की सब पत्नियाँ उसकी संपत्ति मानी जाती थीं , उसका क्षेत्र मानी जाती थीं । अपने क्षेत्र में उत्पन्न हर संतान उसकी अपनी मानी जाती थी चाहे वह औरत हो या नियोग द्वारा प्राप्त, उसके जीवन काल में हुई हो या मरणोपरांत । नारी-जीवन की विडंबना को भीष्म के प्रति अम्बा की ललकार में सशक्त अभिव्यक्ति मिली है, 'सबने अपने-अपने धर्म का निर्वाह किया है तो यह अधर्म क्यों हो रहा है ? पिता के घर से स्वयंबर में मैं हरी गई । अतः मैं लौटकर अपने पितृकुल में नहीं जा सकती । जो मुझे हर लाया वह मुझे ग्रहण नहीं कर रहा, क्योंकि वह ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा में बँधा हुआ है, और जो मुझ से प्रेम करता था, वह मुझे इसलिए अंगीकार नहीं कर रहा, क्योंकि वह मेरा हरण नही कर सका । जब किसी ने अधर्म नहीं किया, किसी ने पाप नहीं किया, किसी ने अन्याय नहीं किया- तो यह सारी यातन मेरे ही लिए क्यों ?' तुम क्यों नहीं मेरे समान वन-वन और नगर-नगर भटक रहे ? अम्बा की यह ललकार भीष्म को ही नहीं, उस युग के जीवन-मूल्यों को भी है । वह उन सबकी कलई खोल देती है ।

उस युग में धर्म अपनी व्यापकता खोकर वैयक्तिक धरातल पर उतर आया था । उस युग का हर व्यक्ति, आत्मकेंद्रित था, अहं निष्ठा था, अपने मान-सम्मान को, अपनी प्रतिमा-प्रतिज्ञा को सर्वोपरि मानता था और उसकी रक्षा के लिए बड़े से बड़ा तप और त्याग करने को उद्यत रहता था, इस बात की चिंता किए बिना कि उसका धर्म सार्वभौम मानवधर्म से टकरा रहा है तथा हित की अपेक्षा अहित कर रहा है । बस एक बार अपने को स्वनिर्मित संकीर्ण व्यक्तिपरक मर्यादाओं की श्रृखलाओं में कस कर बाँध लेने पर वह लाख चाहने और छटपटाने के बावजूद उनसे मुक्ति पाने में अपने को असमर्थ पाता था । भीष्म इस स्वनिर्मित भ्रमजाल का ज्वलंत उदाहरण है । वह मुक्ति के लिए जितना अधिक छटपटाता है, उसके बंधन उतने ही अधिक कसते जाते हैं । इसी सत्य को तो उद्घाटित करता है, 'बंधन' नामक यह पहला खंड ।

'महासमर' का अभी तो पहला खंड ही निकला है । पूरा महासमर शायद लंबी प्रतीक्षा कराए । अतः अभी कुछ भी कह पाना कठिन है । फिर भी ड्योढी से घर के भाग्य-सौभाग्य का अंदाज़ा तो लगाया ही जा सकता है । रामायण-काल की अपेक्षा महाभारत का युग और उसके मूल्य जितने जटिल हैं, उतने ही अधिक वे चुनौतीपूर्ण भी हैं । नरेंद्र कोहली ने इस चुनौती को स्वीकार ही नहीं, अपनी पूरी शक्ति के साथ उससे जूझे भी हैं और जूझते-जूझते इतने डूब गए हैं कि पाठक जगह-जगह यह महसूस करता है कि सत् और असत्, धर्म और अधर्म तथा न्याय और अन्याय की शक्तियों के इस महाभारत का साक्षी 'महासमर' का लेखक भी रहा है - वेदव्यास तो इसके साक्षी थे ही ।

□

---

'महासमर' (बंधन) / (उपन्यास) / नरेंद्र कोहली / प्रकाशक : वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण / 1988 पृ सं 494 / मूल्य : 125 रुपये ।

# अंधेरे में रोशनी की किरण टटोलते हुए

प्रताप सहगल

स्वदेश भारती का नयां कविता संकलन 'भरे हाट के बीच' मेरे सामने है।

स्वदेश भारती केवल कविता ही नहीं, उपन्यास भी लिखते हैं, लेकिन एक कवि के रूप में ही उनकी पहचान ज़्यादा बनी है। अपनी काव्य-यात्रा के अभी तक के अन्तिम पड़ाव पर उनका नया कविता-संग्रह भरे हाट के बीच प्रकाशित हुआ है। भरे हाट के बीच की कविताओं पर टिप्पणी करने का सिलसिला उनकी 'वक्तव्य' से शुरू किया जा सकता है। अपनी इन कविताओं के संदर्भ में उन्होंने 72 से 87 यानी 15 वर्षों के कालखंड को रेखांकित किया है। यों किसी देश का साहित्य के इतिहास में 15 वर्षों का कालखंड कोई लंबा नहीं है लेकिन 72 से 87 तक का यह कालखंड कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। 72 से एकदम पहले बांग्लादेश का उदय 74 में उठे जनांदोलन और फिर आपातकाल। आपातकाल से जुड़ी तरह-तरह की गाथाएँ, 77 में सत्तापरिवर्तन, नये भविष्य की आशा और ताश के पत्तों की तरह से उस आशा का बिखरना, 80 में फिर इंदिरा गाँधी का सत्ता में लौटना, इन्दिरा गाँधी की हत्या, बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दृष्टि से भीषण नरसंहार आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जो इस कालखंड को महत्वपूर्ण बना देती हैं।

प्रश्न यह है कि इस राजनैतिक सामाजिक उथल-पुथल ने हमारी कविता को कितना प्रभावित किया। हुआ यह कि हिंदी कविता इन स्थितियों से सीधे-सीधे टकराने से कतराती रही परिणामतः उन विद्रूप स्थितियों से टकराने के बजाय कविता फूल, चिड़िया की बात करने लगी। कविता में इन या दूसरे प्रतीकों का इस्तेमाल अपने आप में कोई नकारात्मक काव्य-मूल्य नहीं है, लेकिन जब इनका इस्तेमाल स्थितियों से पलायन के लिए किया जाए तो कवियों की मंशा पर शक होने लगता है। कहना होगा कि इन कवियों की भी कुछ-कुछ छायावादियों सी हालत हो गयी जो यों तो अपना विद्रोही तेवर बनाए रखना चाहते थे और साथ ही आक्रामक मुहावरे से बच रहे थे। इस द्वंद ने जिस कविता को जन्म दिया, वह भोथरी थी और इस पर तुर्रा यह कि हमारे कई तथाकथित 'महान' आलोचकों ने इसे बड़ी कविता मान लिया। नतीजतन टनों की तादाद में ऐसी कविताएं सामने आयी जिनका चेहरा-मोहरा लगभग एक सा था। कविता के इस जंगल में अनेक कवियों ने अपनी पहचान खो दी। लेकिन कुछ कवि ऐसे रहे जिन्होंने तात्कालिक सफलता के इस दबाव की चिंता नहीं की और अलग-अंदाज में लिखते रहे। स्वदेश भारती उन्ही कवियों में से

एक हैं । अलग अंदाज में लिखने मात्र से किसी कवि को बहुत महत्वपूर्ण या महत्वहीन नहीं माना जा सकता । तब भी उसकी कविताओं के रेशों का विश्लेषण करना होगा कि स्वदेश भारती की कविताएँ मुहावरे में अलग तो है, पर वे बहुत तल्खी से सामने नहीं आतीं पर कुछ प्रश्न जरूर उठाती हैं और कहीं-कहीं उत्तर खोजने की प्रक्रिया में कुछ तकलीफदेह संकेत भी देती हैं जैसे आज़ादी कविता का यह अंश :-

क्या वह मर जाएगी ?
नहीं ऐसा नहीं हो सकता
कोशिश यही की जा रही है कि वह ज़िंदा रहे
भले ही बैसाखियों पर चले

कविता से संबंधित या फिर स्थितियों से टकराते किसी भी कवि के वक्तव्य उसकी कविता को समझने में मदद करते हैं । कहीं उलझा भी सकते हैं । स्वदेश भारती भी काव्यांदोलनों की चर्चा करते हुए सप्तक-परंपरा की बात करते हैं । यह सच है कि, 43 में छपे 'तार-सप्तक' ने हिंदी कविता को आमूल बदला और यहाँ कविता की पाठ्य-परंपरा की शुरूआत की । यह भी सच है कि 'तार-सप्तक' के पीछे अज्ञेय की जो मानसिकता थी, या कहें जो मकसद था, बाद के सप्तकों में उसने अलग रंग ले लिया और अज्ञेय एक पुरोधा के रूप में स्थापित कर दिए गए या हो गए । कवि से पुरोधा हो जाने की प्रक्रिया में जाने का यहाँ अवसर नहीं है, लेकिन यह जरूर कहूँगा कि अज्ञेय की इस छवि से स्वदेश कहीं आतंकित जरूर हैं । उनके 'वक्तव्युवत्' से संकेत भी मिलता है कि 'चौथा-सप्तक' में एक कवि के रूप में आने से वे अपराध बोध से ग्रस्त हैं और यह कहकर सफाई देते हैं "चौथा सप्तक 1980 में प्रकाशित हुआ । उसमें संग्रहीत कवियों तथा संपादक अज्ञेय को कटु आलोचना का शिकार बनना पड़ा । मैं भी उस लपेट में आया" कष्ट में होने की यह मुद्रा स्वदेश के कवि व्यक्तित्व के सामने सवाल जोड़नी है कि आखिर ऐसा कष्ट क्यों ? यहाँ यह कहना भी असंगत न होगा कि स्वदेश जैसे कवि को 'अज्ञेय' की बैसाखी की जरूरत ही नहीं थी और अगर वे वहाँ जुड़े तो उन्हें अज्ञेय के कंधों पर चढ़कर बोलना चाहिए था ।.यह एक बहस की बात हो सकती है । आइए फिलहाल हम 'भरे हाट के बीच' की कविताओं पर बात करें ।

पिछले तीस वर्षों से सक्रिय कवि स्वदेश भारती के इससे पूर्व पाँच कविता-संग्रह आ चुके हैं और 'चौथा-सप्तक' के एक कवि के रूप में भी उनकी पहचान बनी है । ऐसे कवि की नयी कृति आशाएँ न जगाएँ, ऐसा संभव नहीं है । 'भरे हाट के बीच' की कविताओं से यह आशा जगती है कि एक ऐसा कवि जो पिछले तीस सालों से कविता लिख रहा है, एक ऐसा कवि जिसने अपनी पहचान बनाई है और एक ऐसा कवि जिससे अभी भी सम्भावनाएँ हो सकती है, अपनी नयी रचना के माध्यम से हमें क्या देता है ? किसी भी कवि की कविता यात्रा के ऐसे पड़ाव पर उसका मूल्यांकन एक चुनौती लगता है । स्वदेश भारती की इन कविताओं को पढ़ने के बाद पहला प्रश्न मेरे सामने यह आया कि इन्हें समझने के लिए इनकी तहों को विश्लेषित करने के लिए किस बिंदु से बात की शुरूआत की जाए । अनुभूति से, अनुभव से, भाव से, आवेग से, विचार से या संवेदन से, यह वे सभी शब्द या कहना चाहिए अवधारणाएँ हैं, जिनके सहारे हम किसी कवि के मनोलोक तक पहुँचने की कोशिश कर सकते हैं । यह भी जरूरी नहीं कि कोई कवि अपनी

सर्जना इन में से किसी एक या एकाधिक अवधारणाओं से आबद्ध या प्रेरित होकर ही करे वह अपनी रचना-प्रक्रिया की बुनियाद कहीं और भी रख सकता है।

स्वदेश भारती की रचना-प्रक्रिया को उसके सरोकारों से उठाना पसंद करूँगा कि कवि के 'कन्सर्न ' क्या-क्या हैं ? दूसरे वे सरोकार कवि के अनुभव-लोक का हिस्सा हैं या केवल वस्तुगत ढंग से ही उन्हें रूपायित कर दिया गया है ? तीसरे क्या वे अनुभव कविता में ढलकर आए हैं या आरोपित लगते हैं और चौथे यह कि हम तक वे कितनी ताकत से पहुँचते हैं।

'भरे हाट के बीच' के कविता-संसार को किसी एक संज्ञा से बाँधना तो संभव नहीं है, लेकिन एक वाक्य में कहूँ तो यह कविताएँ अंधेरे में रोशनी की किरण टटोलती कवितॉं हैं। 'अंधेरे के बीच' कविता का मूलाधार स्वदेश की लगभग सभी कविताओं का मूलाधार हो सकता है। जहाँ एक सत्ता वह स्वयं हैं, दूसरी सत्ता अंधेरा है। अपने होने और अंधेरे के होने के बीच ही कहीं क्षत्-विक्षत खड़ी है उसकी अस्मिता। वह अंधेरे को चीर न पा सकने की पीड़ा झेलने के लिए अभिशक्त है :-

अंधेरे के बीच मैं आया इस धरती पर
और एक औरत बहुत खुश थी

और एक जंगल के बीच गुज़रते हुए बार बार
यही महसूस किया कि
जिस अंधेरे से आया था
वही अंधेरा छाया है धरती के आरपार ।

यहाँ कवि की पीड़ा को ईमानदारी से अभिव्यक्ति मिली है, जहाँ वह बड़बोलेपन का सहारा लेकर अंधेरे को ध्वस्त कर देने के वायवी संकल्प नहीं लेता, बल्कि अंधेरे में खुद के अस्तित्व के डूबे होने की पीड़ा को झेलता है। किसी भी अयाचित स्थिति को पहचानना ही उसे तोड़ने की शुरूआत होती है। इसी तरह से 'भविष्य के लिए' या फिर 'आदमी' कविता में कवि के सरोकार अलग शक्ल में नज़र आते हैं, जब वह कहता है -

आदम की परंपरा को कंधे पर लादे
स्वार्थ और अहम् की प्रत्यंचा साधे
धर्म और कर्म के नये विधान गढ़ते
अपने ही सुखों के लिए जीते-मरते
आदमी आज भी आदमी नहीं बने।

इस छोटी-सी कविता में कवि 'वक्तव्य' देने के मोह से तो नहीं बच सका, लेकिन उसके सरोकार साफ उभरे हैं। अपने इतिहास बोध को वर्तमान से जोड़कर देखने की प्रक्रिया में कवि संस्कृति के विभिन्न घटकों के सामने प्रश्न चिन्ह्न लगा रहा है और एक निश्चेष्ट (Passive) प्रश्न हमारी तरफ उछाल रहा है। इसी तरह के निश्चेष्ट सवाल हमें लगातार कोंचते रहते हैं, क्योंकि सारा का सारा उत्तरदायित्व पाठक पर ही आ पड़ता है और उसे खोजना ही पड़ता है कोई न कोई जवाब। या फिर जवाब खोजने की प्रक्रिया को तो वह झेलता ही है। तो क्या कविता का एक मकसद यहाँ पूरा नहीं होता। मात्रा की दृष्टि से देखा जाए तो इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ प्रभावशाली नहीं हैं,

लेकिन गुणात्मक दृष्टि से इन्हें परखने की कोशिश की ही जा सकती है। एक बात और। आज हिंदी काव्यालोचन में यह परिपाटी चल पड़ी है कि कविता में वह खोजो जो नहीं है, यह सही रास्ता नहीं है। असल में महत्वपूर्ण वही है जो इन कविताओं में है और जो नहीं है, वह इनमें होना चहिए वाली दृष्टि काव्यालोचन में भ्रम ही पैदा करती हैं। वहाँ हम न तो कवि का, ना ही कविता का अध्ययन कर रहे होते हैं, बल्कि अपनी पसंद या नापसंद उस पर आरोपित कर रहे होते हैं। ऐसे में हम सही निष्कर्षों की ओर जा सकते हैं, इसमें मुझे शक है।

इसलिए मैं वही बात कर रहा हूँ, जो इन कविताओं में है। इसी संग्रह की बेहतर कविताओं में एक है 'पहचान' :-

यह काफी नहीं है कि चीखकर चिल्लाना
नाचना सड़कों पर नंगे भागना
यह काफी नहीं है
कि हर शाम
बुद्धि जीवियों की भीड़ बन
बटेर शब्दों के शिकार करना

काफी यह भी नहीं
कि अपने एहसास को अपने ही पावों ठोकर लगाना
और पराजय के कीर्तिमान स्थापित करने में
समय की बाजी हार जाना
हाँ सिर्फ यही काफी हैं कि
पहचानें हम अपने को
चाहे तुम हो या मैं।

पूरी कविता का संवेद्य यों उभरता है कि जीवन की आपाधापी और छद्म होते हुए व्यक्तित्व के बीच कवि खुद को पहचानने के निर्णय की ओर बढ़ता है। खुद को नंगा कर देखने की हिम्मत तो बहुत ही कम लोगों में है, ऐसी कोशिश करने वाले भी कोई ज़्यादा नहीं हैं। रचनाकार भी जब अपने व्यक्तित्व के छद्म एवं असली स्वरूप को पहचानने की, उसके रेशों को तार-तार कर देखने की कोशिश नहीं कर सकता तो फिर दूसरों से, समाज से शिकायत करना कहाँ तक वाजिब है। 'पहचान' या अन्य कुछ कविताओं में स्वदेश यह कोशिश ज़रूर करते हैं जहाँ वे अपने ही व्यक्तित्व के ढके-छुपे पक्ष टकराएँ, लेकिन यह कहना सही नहीं होगा कि वे इस कोशिश में कोई बहुत दूर तक पहुँचते हैं। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कविताएँ वस्तुगत होकर रह गयी हैं और जहाँ भी उन्होंने वस्तु को कविता की अंतर्वस्तु बनाने में सफलता अर्जित की है, वहाँ कविता असरदार हुई है। उदाहरण के लिए 'कायर दुनिया', 'पहचान', 'अन्धेरे के बीच' या फिर 'खालीपन'। स्वदेश की कविता अंदर से बाहर नहीं, बल्कि बाहर से अंदर आती हुई लगती है, यह भी सच है कि कुछ कविताएँ असरदार न होने के बावजूद खंडों में अपनी ओर खींचती है जैसे 'कनुप्रिया' का यह अंतिम अंश :-

सूर की कृतियों में पढ़ने के लिए
रह गई हैं इतिहास की बातें
यह तो एक छोटा सा गाँव है
कृष्ण की जगह किशन है
मोर पंख नहीं सिर पर मैली पगड़ी हैं
गायें हैं, पर नंदन-कानन नहीं
सूखे गलियारे हैं, घास नहीं, तृण नहीं
दूध सारा डेरी वाले अलख सुबह खरीद ले जाते
भूखे रहते बाल-गोपाल
गाय हाँकते दिन बीतते गोधूलि में सने
किसान-सखा घर लौटते
सूखी रोटी पेट में रख, सो रहते

प्रतापगढ़ में लिखी इस कविता का यह अंश हमें सीधे-सीधे गाँव के उस परिवेश से जा से ला जोड़ता है, जो नई स्थितियों में, बदलते हुए मानवीय रिश्तों को पहचान रहा है। अपने संबंध पूरे माहौल के साथ टटोल रहा है। पर पूरी कविता को लें तो कविता शिथिल हो जाती है। इसी तरह से पर्वत कविता की कुछ पंक्तियां या फिर *'जहां कहीं भी'* कविता की 'चीखों को डस गया है खामोशी का अजगर' जैसी काव्य-पंक्तियां हमें बाँधती है। यह त्रासदी आज पूरी हिंदी कविता की ही लगती है कि अनेक कविताओं का समग्र प्रभाव कम या शून्य होने के बावजूद कुछ अंशों में प्रभावी बिंब या प्रतीक इस्तेमाल करके कवि अतिरिक्त आशाएँ जगा देता है और तब यकीनन बहुत अफसोस होता है जब कविता बीच में ही तान तोड़ देती है।

स्वदेश भारती की कविताओं के सरोकार जहाँ समाज, प्रजातंत्र, धर्म, आदमी और संस्कृति से जुड़े प्रश्नों के साथ जुड़े हुए हैं, वहीं इस सवाल पर भी गौर करना अनुचित न होगा कि वे अपनी कविताओं के मूलाधारों को कविता में ढालने का कौन सा रास्ता अख्तियार करते हैं ? इस प्रश्न पर आधिकारिक रूप से अपना वक्तव्य तो स्वदेश ही दे सकते हैं, लेकिन इस बहाने हम काव्य-सृजन से जुड़े कुछ सवालों से जरूर टकरा सकते हैं। स्वदेश भारती की इन तमाम कविताओं में आया अनुभव संसार निर्व्यैक्तिकता के साथ रूपायित किया गया है। अनुभव अर्जित करना ही पर्याप्त नहीं, उन्हें अपने व्यक्तित्व में पचाना और फिर उन्हें कविता की अंतर्वस्तु के रूप में ढालना भी जरूरी है। यहाँ लगता यह है कि अर्जित विशद अनुभव अधिकांश कविताओं में अंतर्वस्तु के रूप में ढल नहीं पाए। इसी तरह से इन कविताओं पर किसी तरह का विचार या विचारधाराएँ भी हावी नहीं हैं। विचार कविता का मूल उत्स नहीं हो सकता, वह भी कविता में ढलकर ही आ सकता है। विचार को कविता का बुनियादी तत्त्व भी नहीं माना जा सकता। पर यह भी सच है कि शून्य में लट्ठ भांजने का नाम भी कविता नहीं है एक दृष्टि, कोई दर्शन तो जरूरी है, पूरी काव्य-सर्जना के पीछे। पर जब कविता को मात्र एक 'व्हीकल' के रूप में इस्तेमाल कियाँ जाए और कविता की शर्तों को दरकिनार कर दिया जाए तो दिक्कत होती है। कविता कोई ठेला गाड़ी नहीं, जिस पर आप विचार या विचारधारा लाद कर समाज की खोपड़ी पर मार दें। विचार के

रू--ब--रू आवेग है। सबसे पहले आवेग और भावेश में फर्क कर लेना जरूरी है। आवेश को ही आवेग मानकर पूरी सृजन-प्रक्रिया के मुद्दों को गलत दिशा में धकेल सकते हैं। इसी तरह आवेग और उद्वेलन में भी फर्क करना जरूरी है। आवेग कविता को जन्म देता है, जबकि आवेश और उद्वेलन में सिर्फ एक बड़बोलापन या फतवे ही शब्द-विन्यास में आते हैं, जिसे कभी-कभी हम कविता मान लेने की गलती कर बैठते हैं। आवेग का इस्तेमाल भी अगर संभल कर और सोचकर नहीं किया जाता तो वह भी कविता में दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। पर आवेग को कविता-सृजन की प्रक्रिया से खारिज नहीं किया जा सकता। स्वदेश भारती का कवि इन तथा कविता से जुड़े दूसरे सवालों से अनभिज्ञ नहीं है। लगता है कि उन्होंने आवेग को भी अपनी कविता के बुनियादी तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया। विचार को तो नहीं ही किया। आवेग-जन्य लिजलिजी भावुकता या बड़बोलापन उनकी कविताओं में नहीं है नही उन्होंने कविता को विचार के ठेले की तरह से इस्तेमाल किया है। उनकी कविताओं में जिनस भी मूलाधारों की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं, उन्हें कविता में ढालने का काम वे संवेदन से लेते नजर आते हैं। संवेदन यानि स्थितियों से जुड़ने और उन्हें समझने की कोशिश, संवेदन यानी अपने आसपास फैले हुए दुःख-सुख में सहभागी होने का सिलसिला, संवेदन यानी दूसरे को अपना बनाने की प्रक्रिया। उनका रास्ता यही लगता है कि वे संवेदन के स्तर पर ही काव्य-सृजन में लगे हुए हैं और अपने संवेदनात्मक अनुभवों को बिंबों और प्रतीकों में ढलने देते हैं – जैसे –

महानगर के बीच
दो पहर ढलने के बाद
ऊंघते रहते मकान
दरवाजों पर रेशमी पर्दा तान
या फिर
बादल-वेश में की भक्ति आराधना
पर्वत! तुमने युगों से ऊँचे उठने की
शांति-साधना!

इन कविताओं में जहाँ भी वे तीसरे पुरुष की तरह से उपस्थित हैं, वहीं कविता गायब हुई है या सायास लगती है।

पहले भी कहा कि स्वदेश जैसे कवि से हमारी आशाएँ ज्यादा हैं। यह भी सच है कि वह कोई चुका हुआ कवि नहीं जो हम उनसे आशाएँ न करें। कुछ कविताएँ हमें आश्वस्त भी करती हैं कि आशा करना ठीक है। यों यह आश्वस्ति भाव हमें चुप भी करा सकता है, पर इन्हें हम अंधेरे में रोशनी की किरण टटोलती कविताएँ ही कहेंगे, हमारी अपेक्षाएँ अगर अधिक हैं तो यह दोष कवि का नहीं, हमारा है।

□

---

भरे हाट के बीच/स्वदेश भारती/रुपांबरा प्रकाशन/कलकत्ता 26/मूल्य : 22 रुपये ।

# जीवनगत सरोकारों का दस्तावेज

डॉ. अमरेंद्र मिश्र

श्री विद्याभूषण श्रीरश्मि का उपन्यास दिव्यधाम एक महत्वपूर्ण रचना है। आज जबकि उपन्यास साहित्य कहना चाहिए कि, काफी आगे निकल चुका है और अपनी यात्रा में रहस्य-रोमांच से लेकर आधुनिक युगबोध, मानव मूल्य, जीवन के समसामयिक प्रश्नों से हमें जोड़ रहा है तो यहीं एक बात पकड़ में आती है कि आजकल जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं उनकी अगर श्रेणियाँ बनायी जाएँ तो ऐसे कितने उपन्यास होंगे जो हमारे जीवनगत् सरोकारों के अधिक निकट हैं ? यह बहस का मुद्दा हो सकता है। और पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर ऐसी खुली बहस प्रायः पढ़ने को मिलती है।

दिव्यधाम एक उपन्यास है। सिर्फ यह कहभर देने से वस्तुतः इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो जाती। सच तो यह है कि यह अपने ही तरह का उपन्यास है और इसे सार्थक बनाने के लिए जो प्रमाण विद्याभूषण जी ने जुटाए हैं वे सब हमारे भीतर से लिए गए हैं।

इसे अध्यात्मप्रधान सामाजिक उपन्यास कहा गया है। इस बात की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि अध्यात्म का व्यापक अर्थ इसमें प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि आरंभ में ही लेखक ने यह स्वीकार किया है कि प्रस्तुत उपन्यास उसके संपूर्ण जीवन के दौरान अर्जित ज्ञान का समर्पण है। "दिव्यधाम" एक आदर्श गाँव है। पटना से कुछ ही दूर लगभग डेढ़ घंटे की यात्रा बाढ़ तक, और उसके बाद चार मील की सड़क यात्रा। बाढ़ से बख्तियारपुर जाने वाले मुख्य मार्ग के करीब तीन मील चलने पर ही एक कच्ची सड़क जाती है उत्तर की ओर - इसी सड़क पर दिव्यधाम गाँव गंगा के किनारे स्थित है। लेखक जो एक पत्रकार है वह कैमरे की भाँति एक-एक चीज को बारीकी से देखता है और उनका वर्णन करता चलता है। इसी गाँव में एक स्वामी जी रहते हैं और वे सच्चे अर्थों में स्वामी हैं। गाँव के लोग उन्हें "देवपुरुष" मानते हैं और गजब की बात तो यह है कि "अब तो पहचाना नहीं जाता गाँव। पहले यहाँ रोज दंगा फसाद होता था। कलह का अड्डा था। अब लगता है एक परिवार है। सभी एक दूसरे के लिए जान देने को तैयार। हमारा गाँव स्वर्ग बन गया"।

लेखक की मुलाकात उन स्वामी जी से होती है और वह उनसे प्रभावित होता है। लेखक उनसे कई प्रकार के प्रश्न पूछता है। ये प्रश्न ग्राम, स्वराज, धन, अज्ञान, अशिक्षा, धर्म, आत्मा, परमात्मा से लेकर राजनीति तक से संबंधित होते हैं और स्वामी जी अर्थात दिव्यानंद जी उन सबका

समाधान भी करते चलते हैं। वे बताते हैं कि किस प्रकार आज़ादी के बाद गाँव उजड़ते गए, शहर बसते गए, सत्ता का केंद्रीकरण हुआ। दिव्यानंद मानते हैं कि आज जो हमारे आसपास राजनीति ने घिनौनी स्थिति पैदा की है उससे लड़ना थोड़ा कठिन है क्योंकि सत्ता के केंद्र मनमानी करने पर तुले हुए हैं। इसलिए वे यह लड़ाई व्यक्तिगत स्तर पर लड़ना चाहते हैं ताकि जन-जन जागृत हो। उनका मानना है कि 'मैं व्यक्ति को जगाने में लगा हूँ, उसको उसके महत्व से परिचित करा रहा हूँ लेकिन यह काम केवल उपदेश से नहीं हो सकता। इसके लिए स्वयं अपनी आत्मा का विस्तार करना होगा। हर प्राणी में मुझे अपनी छवि दिखाई देने लगे इसी साधना में लगा हूँ। (पृ. 75)

प्रस्तुत उपन्यास में जैसा कि पहले कहा, एक साथ कई समस्याओं पर प्रहार है। हिन्दुस्तान में गाँव की गरीबी का उदाहरण (पृ. 76 से 79) तक आया है जिसमें बिहार के मधुबनी के पास के गाँव को कथाकार ने चुना है। ग्रामीण जीवन की विसंगतियाँ, अन्याय अनाचार का विवरण मिल जाता है। व्यवस्था तंत्र के ऊपर प्रहार (पृ. 86) पर आया है जिसमें "यस सर" कल्चर को दिखाया गया है। इसी प्रकार संसद (पृ. 90), आत्माएँ (पृ. 105), धर्म (पृ. 155-156) भौतिकता की आँधी (पृ. 196) पर आया है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक अन्य अनेक पात्रों, परिस्थितियों, माहौल, परिवेश के साथ सहयात्री की तरह होता है। निश्चित रूप से विद्याभूषण जी की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने अपने विराट अनुभव को कई पात्रों के द्वारा पाठकों के समक्ष रखा है और इसके लिए उन्हें निश्चित रूप से देश के कई हिस्सों की यात्रा करनी पड़ी है। 'दिव्यधाम' को अगर इस दृष्टि से देखें तो पाएँगे कि यह यात्रा प्रधान है क्योंकि एक तरफ से कथाकार उस भूगोल से हमारा परिचय कराता है जिसे उसे यहाँ लिया है, दूसरी ओर वह अपने मन-प्रदेश की भीतरी यात्रा को रचनात्मक स्तर पर आंकता है। यहाँ एक प्रकार की चेतना काम करती है जो इस उपन्यास में उपस्थित है और जिसके होने से 'दिव्यधाम' और अधिक ताजा लगता है।

☐

---

दिव्यधाम/विद्याभूषण श्रीरश्मि/गीतांजलि प्रकाशन 1131/12 आर. के. पुरम नयी दिल्ली-22 पृष्ठः 270/मूल्य 20 रुपये।

रपट

# द्विवागीश पुरस्कार अर्पण समारोह

राजधानी में हाल ही में त्रवेणी कला संगम सभागार सुपरिचित विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति से भर उठा। डॉ. हरिवंशराय बच्चन, श्रीमती अमृता प्रीतम, श्री विष्णु प्रभाकर, डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. श्यामसिंह शशि के आगमन से वातावरण जैसे साहित्यमय हो गया। यह अवसर था भारतीय अनुवाद परिषद् द्वारा वर्ष 1987-88 के लिए द्विवागीश पुरस्कार अर्पण का। इस समारोह के अतंर्गत श्री विष्णु प्रभाकर की अध्यक्षरता में विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न हरिवंशराय बच्चन तथा श्रीमती अमृता प्रीतम को द्विवागीश पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

इस पुरस्कार के अंतर्गत विदेशी भाषाओं से भारतीय भाषाओं में तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में परस्पर अनूदित कृतियों के अनुवादकों को सम्मानित किया जता है। यह पुरस्कार अनुवाद के क्षेत्र में भारतीय अनुवादकों के लिए भारतीय अनुवाद परिषद् द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर 1986-87 में स्थापित एक मात्र पुरस्कार है। द्विवागीश पुरस्कार का उद्देश्य अनुवाद को मौलिक साहित्य तथा कला की कोटि में स्थापित कराने में योगदान देने एवं साहित्य प्रतिभाओं को अनुवाद की दिशा में प्रेरित करने वाले साहित्यकारों का सम्मान कर अनुवाद कार्य को एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करके अनुवाद प्रेमियों को प्रोत्साहित करना है।

डॉ. हरिवंश राय बच्चन ने अथाह मौलिक सृजन के अतिरिक्त दस से अधिक देशी-विदेशी कृतियों का हिंदी में अनुवाद किया है, जिनमें शेक्सपीयर के चार नाटक, उमर खैय्याम की रूबाइयाँ तथा नेहरू : राजनीतिक जीवन चरित्र मुख्य हैं। श्रीमती अमृता प्रीतम द्वारा अनूदित कृतियों की संख्या सत्रह हैं। जिनमें उल्लेखनीय हैं डॉ राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा, जर्मन का दर्शनशात्र, विश्व की श्रेष्ठ कहानियों का हिंदी तथा पंजाबी में अनुवाद, नागमणि विशेषांक जिसमें रूमानियन, हंगरी, युगोस्लाव, बल्गारियाई तथा पाकिस्तानी लेखकों की रचनाओं का अनुवाद है।

भारतीय अनुवाद, परिषद् कार्यकारिणी के अध्यक्ष डॉ. प्रभाकर माचवे ने अनुवाद की महत्ता के संदर्भ में इज़रा पाऊँड के शब्द दोहराते हुए कहा कि बार-बार हर युग में हर 'क्लासिक' का अनुवाद करना पड़ता है। अनुवाद एक अत्यंत कठिन कार्य है तथा इसके विषय में जितना भी कहा जाए अपर्याप्त है। संसार के अनेक महाकवि अनुवाद कार्य में संलग्न रहे हैं। महात्मा गांधी ने टॉलस्टॉय और रवींद्रनाथ टैगोर ने टी. एस. एलियट की रचनाओं का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त डॉ. माचवे ने बच्चन तथा अमृता प्रीतम द्वारा किए गए अनुवादों की चर्चा की ।

इस अवसर पर अमृता प्रीतम ने स्मारिका का विमोचन किया। तदुपरांत उन्होंने युगोस्लाव और रूमानियन कविताओं का पंजाबी तथा हिंदी अनुवाद पढ़ कर सुनाया। इन चंद लम्हों के काव्य पाठ ने दर्शकों को भाव-विभोर कर दिया और तालियों की गड़गड़ाहट से सभागार गूँज उठा। इस पर अमृता जी ने कहा कि मैं समझती हूँ कि अपने ही दर्द के इज़हार के लिए मैंने इन नज़मों का तर्जुमा किया था और आपने इस दर्द को भी सम्मान दिया इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देती हूँ।

अस्वस्थता के कारण बच्चन जी के चेहरे पर खिली हुई मुस्कराहट नहीं थी। उन्होंने सम्मान अर्पण के लिए भारतीय अनुवाद परिषद् को धन्यवाद देते हुए कहा कि इस प्रकार के आयोजनों से अनुवाद को प्रोत्साहन मिलेगा। परंतु सिर्फ साहित्य का अनुवाद ही नहीं होना चाहिए। आज देश की एकता तथा प्रगति के लिए विज्ञान का अनुवाद अत्यंत आवश्यक हो गया है।

श्री रघुवीर सहाय ने अनुवाद पर अपने महत्वपूर्ण विचार रखे। उन्होंने कहा कि अनुवाद का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी रचना का अनुवाद करने से पूर्व हमें उन तमाम कठिनाइयों को पहचान लेना चाहिए जिन्हें हर अच्छा अनुवादक पहचानता-समझता है। बिना इसके दो मुख्तलिफ़ भाषाओं के साहित्य के बीच न तो सेतु बनता है और न ही किसी प्रकार की भावना का प्रस्फुटन हो पाता है। यद्यपि आज तक अनुवाद की जाँच के लिए कोई प्रतिमान स्थापित नहीं हुआ, तथापि प्रकाशन से पूर्व अनूदित रचना का भरपूर आत्मालोचन जरूरी है। कविता के अनुवाद के बारे में रघुवीर सहाय का मानना है कि कविता बिंबों और संगीत से वह काम करती है जो शब्दों द्वारा संभव नहीं। भाव, दुःख अथवा आनंद आदि की अभिव्यक्ति केवल कविता के माध्यम से ही प्रभावशाली हो सकती है। रचना और अनुवाद में समानता होते हुए भी एक मौलिक अंतर है। सामान्यता रचनाकार कविता लिखने से पूर्व यह नहीं जानता कि इसका अंतिम रूप क्या होगा। उसका लिखना ही उस अंतिम रूप का उजागर करने में सहायक होता है। अनुवाद की प्रक्रिया ठीक इसके विपरीत है। परंतु अनुवादक इस सत्य को पहचानता नहीं। उसे निरंतर यह भ्रम बना रहता है कि वह स्वयं रचना लिख रहा है। अनुवादक की एक सीमा है जिसे जाने या अनजाने तोड़ा नहीं जाना चाहिए।

डॉ रांग्रा ने काव्यानुवाद की समस्याओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि मनोवैज्ञानिक समस्या को समझने के लिए ज्ञान-विज्ञान के साहित्य तथा सृजनात्मक साहित्य के मौलिक अंतर को जानना होगा। किसी काव्य की परिणति उसके पक्षों में नहीं; पाठक के मनोजगत में होती है। कवि ही सृजक नहीं होता, पाठक भी सृजक होता है। अतः एक अनुवादक को सुहृदय पाठक और सृजक की भूमिका निभानी पड़ती है। काव्य का अनुवाद मात्र अनुवाद नहीं, बल्कि उससे भी कुछ अधिक हैं।

अपने अध्यक्षीय भाषण में विष्णु प्रभाकर ने कहा कि वास्तव में अनुवाद मेरा विषय नहीं है। मैं तो केवल एक सृजक हूँ। परंतु जो थोड़ा बहुत अनुवाद का काम मैंने किया है उसमें मैंने अनुभव किया है कि यह एक भयानक काम है। सर्वप्रथम इसके लिए भाषा का विशुद्ध ज्ञान होना परम आवश्यक है। प्रत्येक भाषा के हर शब्द का अपना एक वातावरण होता है जो अपनी भाषा, चेतना और संस्कृति से जुड़ा हो सकता है। अतः अनुवाद ऐसा होना चाहिए कि उसमें मूल भाषा के शब्दों का वातावरण विलुप्त न हो जाए। वस्तुतः यह कठिन एवं जोखिम से भरा कार्य है। रवींद्र नाथ टैगोर का कहना है कि मैं केवल भाषा के शब्दों को पहचानता हूँ। साथ ही विष्णु जी ने भारतीय अनुवाद परिषद के प्रयासों की सराहना की और इसकी प्रगति एवं लक्ष्यसिद्धि के लिए शुभकामनाएँ दीं।

मंच का संचालन विनोद शर्मा ने किया। अंत में डॉ. गार्गी गुप्त ने विशिष्ट अतिथियों तथा उपस्थित दर्शकों का धन्यवाद किया।

यशपाल कालड़ा

□

# इस अंक के लेखक

| | |
|---|---|
| डॉ नगेंद्र | प्रख्यात आलोचक, निबंधकार, जीवनीकार, साहित्य के इतिहासकार । निवृत्तमान अध्यक्ष हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।<br>संपर्क: 134 वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-34 |
| डॉ निर्मला जैन | आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रख्यात आलोचक। रस-सिद्धांत पर डी लिट् की उपाधि। शिक्षाविद्।<br>संपर्क: 24/8, माल रोड, दिल्ली-7 |
| डॉ रमेश कुंतल मेघ | प्रगतिशील कवि एवं आलोचक। मध्ययुगीन परंपरा व सौंदर्य दृष्टि पर मौलिक कार्य ।<br>संप्रति : प्रोफेसर, एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गुरूनानक देव युनिवर्सिटी, अमृतसर। |
| डॉ रत्नलाल शर्मा | आलोचक एवं कथाकार ।<br>संप्रति : उप निदेशक, समाज कल्याण, जीवन दीप बिल्डिंग, नयी दिल्ली ।<br>संपर्क: 72, कपिल विहार, पीतमपुरा, दिल्ली - 34 |
| कमला प्रसाद सिंह | कवि, कथाकार एवं व्यंग्यकार ।<br>संप्रति: प्राचार्य हिंदी विभाग, फारबिसगंज कालेज पूणिया, बिहार। |
| रामेश्वर शुक्ल अंचल | छायावादोत्तर प्रगीत कविता के प्रख्यात कवि, आलोचक, चिंतक एवं कथाकार । गीत विधा में मौलिक अवदान । तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणेता ।<br>संपर्क: "पचपैढी" दक्षिणी सिविल लाइंस, जबलपुर । |
| भगवतीशरण सिंह | गद्य शैलीकार, कथाकार, रेखाचित्र-निबंधकार । वन्य जीवन, पर्यावरण पर मौलिक कार्य ।<br>संपर्क: बी-22 सैक्टर-ए, महानगर, लखनऊ। |
| डॉ रामदरश मिश्र | बहुआयामी प्रतिभा के धनी। कवि, कथाकार, आलोचक। प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (दक्षिणी परिसर)।<br>संपर्क: आर-38 वाणी विहार, उत्तमनगर, नयी दिल्ली - 59 |
| सोमदत्त | प्रगतिशील कवि एवं आलोचक ।<br>सचिव, मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् । संपादक "साक्षात्कार" ।<br>संपर्क: ई-1/1, प्रोफेसर्स कालोनी, भोपाल। |
| जगदीश गुप्त | नयी कविता के वरिष्ठ कवि, आलोचक, साहित्येतिहासकार, । काव्य की प्राचीन परंपरा और आधुनिक मूल्यों को जोड़ने वाले रचनाकार, चित्रकार ।<br>संपर्क: 181-ए/1 नागवासुकि, दारागंज, इलाहाबाद। |
| वीरेंद्र मिश्र | नवगीत के प्रसिद्ध हस्ताक्षर ।<br>संप्रति: प्रोड्यूसर एमेरिटस, आकाशवाणी, बंबई। |

| | |
|---|---|
| स्वदेश भारती | नयी कविता के सुपरिचित हस्ताक्षर । "चौथा सप्तक" में संकलित कवि । "रूपांबरा" के संपादक ।<br>संपर्क : 22 बी, प्रतापादित्य रोड, कलकत्ता-700026 |
| हेमंत शेष | नयी पीढी के प्रतिभाशाली कवि । इनकी रचनाओं में काव्य और शैली की ताजगी द्रष्टव्य है।<br>संप्रति : अतिरिक्त कलैक्टर एवं अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट, भरतपुर (राज ) |
| सुधा चौहान | नयी कविता की सुपरिचित कवयित्री । कथाकार । बच्चों और महिलाओं के साहित्य पर विशेष कार्य ।<br>संपर्क : 18 न्याय मार्ग, इलाहाबाद । |
| रमाशकर श्रीवास्तव | व्यंग्य लेखक, कथाकार, आलोचक ।<br>संपर्क : आर-4, वाणी विहार, उत्तमनगर, नयी दिल्ली । |
| डॉ अश्विनी पाराशर | युवापीढी के आलोचक । आधुनिक प्रबंधकाव्यों पर विशेष कार्य ।<br>सपर्क : 7 बैंग्लो रोड, दिल्ली । |
| नरेंद्र मोहन | समकालीन कविता के जाने-माने हस्ताक्षर ।<br>संप्रति : रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय ।<br>संपर्क : 239-डी, एम आई जो फलैट्स, राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली-27 |
| डॉ रणवीर रांग्रा | प्रसिद्ध लेखक एवं आलोचक । हिंदी में साक्षात्कार विधा में विशेष अवदान ।<br>संपर्क : सी-7/180 नवीन निकेतन, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया, नयी दिल्ली - 16 |
| प्रताप सहगल | समकालीन पीढी के सुपरिचित कवि, आलोचक एवं प्रसिद्ध नाटककार ।<br>सप्रति : रीडर, जकिर हुसेन कालेज (साध्य) दिल्ली ।<br>संपर्क : एफ-101, राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली । |
| यशपाल कालडा | युवा लेखक, नाटककार । पत्र-पत्रिकाओं मे रचनाएँ ।<br>संपर्क : 479 झील, दिल्ली - 110051 |